# गुरुकुल – पत्रिक

**मासिक शोध–पत्रिका**

Monthly Research Magazine

**पं० जयचन्द विद्यालंकार – अंक**

सम्पादक

**डॉ० महावीर**

**गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार –249404**

# गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

## पं० जयचन्द विद्यालंकार – अंक

सम्पादक

**डॉ० महावीर**

एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य

पी-एच.डी., डी.लिट्.

प्रोफेसर एवं निदेशक

**श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान**

सह-सम्पादक

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री

**गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार –249404**

| | | |
|---|---|---|
| मार्च - जून-९९ | वर्ष 51 वां | चैत्र-आषाढ़ सं. 2056 |

# सम्पादक मण्डल




मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोन : 415975

# वेदमञ्जरी

## इन्द्रस्य पूजा

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद् दुवः।। ऋग् १.४.५

**ऋषिः मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। देवता इन्द्रः। छन्दः गायत्री।**

**उत** यदि च **निदः** निन्दितारो जनाः **नः ब्रुवन्तु** अस्मान् कथयन्तु यत् **अन्यतः चित्** एकैकस्मात् स्थानादपि **निर् आरत** निर्गच्छत, एवं बहुतराणि कष्टानि प्रदद्युः, तथापि वयम् **इन्द्रे इत्** परमेश्वरे खलु **दुवः** पूजां **दधानाः** धारयन्तः स्याम।

अस्माभिरद्य परमेशभक्त्या व्रतं गृहीतम्। वयम् इन्द्रस्य पूजकाः सञ्जाताः। परं न जाने कुतो ऽस्माकम् ईश्वरपूजा नास्तिकेभ्यो न रोचते। ते वाञ्छन्ति यद् वयमपि तत्सदृशा नास्तिका भवेम, वयमपि नास्तिकानां दलस्य सदस्या भूत्वा जगदीशादेशविरूद्धानि कार्याणि कुर्याम, चोरयेम, वञ्चयेम, हिंसोपद्रवं चरेम। अस्माकं प्रातःसायम् ईश्वरप्रणिधानं ते न श्लाघन्ते। ते नो व्यङ्ग्यवचोभिर्विध्यन्ति। ते ऽस्मान् कथयन्ति—वञ्चका यूयं, धूर्ता यूयम्, ध्यानस्य छलेन स्वात्मानं महात्मानं प्रकटयितुम् इच्छथ मानवाँश्च स्वप्रभावपरवशान् कृत्वा प्रतारयितुम् अभिलषथ। तेषाम् एतादृशैर्वाग्बाणैराहता अस्माकमनेके सहयोगिनो, यैरस्माभिः साकं प्रभुपूजायाः संकल्पः कृत आसीत्, पूजां त्यक्तवन्तः सन्ति। किन्तु हे परमेश, अस्मभ्यं तु तादृशं बलं वितर यत् कामं निन्दका अस्मान् निन्देयुः, कामम् अस्मान् उद्वेजयेयुः, भर्त्सयेयुः, व्यथयेयुः, कियदपि कष्टं प्रदद्युः, परं वयं भवत्पूजनं न परित्यजेम।

जानीमो वयं यद् दुष्टानाम् एवंविधानि कृत्यानि सोढुं दुःशकानि भवन्ति। यदा बहुसंख्यका निन्दका एकीभूय हास्यपूर्णैः करतलनादैः क्लेशयन्ति विरोधवचांसि ब्रुवन्ति, संभारं दहन्ति, तत्काले सत्ये दाढर्यं प्रकाशयितुं विरला एव क्षमाः। परं वयं तु वाञ्छामो यत् कठिनेष्वपि कालेषु प्रभुपूजायां स्थिराः स्याम। निन्दकाश्चेद् ब्रूयुः—अस्माद् गृहान्निःसरत, अस्मान्नगरान्निःसरत, देशान्निःसरत, तदापि वयं हताशा न भवेम। कश्चिद् रिपुरस्मच्छरीरे पाषाणं बद्ध्वा ऽस्मान् समुद्रे प्रक्षेप्तुं तत्परो भवेद्, वह्नौ प्रज्वालयितुं सक्रियो भवेत्, पर्वतशिखरात् पातयितुम् उद्यतो भवेत्, तदापि वयम् ईश्वरपूजां न मुञ्चेम। वयं ध्रुवसमाः प्रह्लादसमाश्च भगवद्भक्ता भवेम। अस्माकं प्रभुभक्तिं विलोक्य शत्रुरप्यस्मान् प्रशंसेत्।

एवंविधश्चेद् अस्माकम् परमेश्वर विश्वासो भवति, तदा प्रभुकृपाप्रसादम् वयमवश्यं प्राप्स्यामः। निन्दकनिन्दानां शत्रुबाधानां च कृष्णा घटाः स्वयमेव विनंक्ष्यन्ति। परमैश्वर्यसम्पन्नः प्रभुरिन्द्रः स्वकीयां दिव्यैश्वर्यवृष्टिम् अस्माकं मूर्ध्नि करिष्यति।

**—डा० रामनाथ वेदालङ्कारः**
पूर्व आचार्योपकुलपतिश्च
गुरुकुल कांगड़ी वि०वि०, हरिद्वारम्

# सम्पादकीय...

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द ने आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व भगवती भागीरथी के पावन तट पर गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना करते हुए बहुत बड़ा सपना देखा था कि इस संस्था में विद्या प्राप्त करने वाले ब्रह्मचारी अपने ज्ञानालोक से न केवल भारतवर्ष को अपितु भूमण्डल को प्रकाशित करेंगे। प्रारम्भिक काल से ही गुरुकुल में वैदिक ज्ञान–विज्ञान के साथ–साथ आधुनिक विषयों का अध्ययन, अध्यापन एवं उच्चस्तरीय शोध–कार्य होता रहा। यहीं कारण है कि इस ऐतिहासिक शिक्षण संस्थान से शिक्षा प्राप्त स्नातकों ने विविध विषयों में मौलिक ग्रन्थों का निर्माण किया। स्वामी समर्पणानन्द, आचार्य अभयदेव, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पं० विश्वनाथ जी, पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड, डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार, आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार प्रभृति वैदिक विद्वानों ने वेद विषयक उच्च–कोटि के ग्रन्थों से वैदिक साहित्य की श्री–वृद्धि की, तो पं० जयचन्द्र विद्यालंकार, आचार्य रामदेव, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, डॉ० हरिदत्त वेदालंकार आदि मनीषियों ने इतिहास विषयक प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना कर इतिहास के झरोखे से वैभवशाली, विजयी भारत के दर्शन कराये। ये वे इतिहासकार थे जो किसी विदेशी इतिहास लेखक के उच्छिष्ट–भोजी न होकर अपने ज्ञान–चक्षुओं से अतीत को देखकर उसे लिपि–बद्ध करते थे। स्वाधीन भारत में देशवासियों के हृदयों में आत्म–गौरव की दिव्य भावना जागृत करने के लिए इस प्रकार के प्रामाणिक इतिहास लेखन की परम आवश्यकता थी।

गुरुकुल के यशस्वी स्नातक तथा प्रसिद्ध इतिहासकार श्री जयचन्द्र विद्यालंकार जहां प्रबुद्ध विद्वान, लेखक, इतिहासविद् थे, वहां स्वतन्त्रता संग्राम में अनेक क्रान्तिवीरों के प्रेरणा स्रोत भी थे। उनका जन्म वर्तमान पाकिस्तान के जिला लायलपुर के ग्राम डिजकोट में पिता श्री करमचंद नारंग के यहां ५ मार्च १८९८ को हुआ था। उन्होंने १९१९ में गुरुकुल से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। कई वर्षों तक गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापन कार्य किया। उनके समक्ष दो प्रमुख ध्येय थे। एक प्रामाणिक इतिहास लेखन और दूसरा देश की स्वाधीनता। १९२० में असहयोग आन्दोलन के दिनों में जब सरकारी स्कूलों और कॉलेजो के बहिष्कार की आंधी आई तो अनेक स्थानों पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई। लाहौर में नेशनल कॉलेज की स्थापना हुई और पं० जयचन्द्र जी वहां इतिहास के प्राध्यापक नियुक्त हो गये। यहीं पर अमर शहीद भगतसिंह और उनके साथियों ने श्री जयचन्द्र जी के चरणों में बैठकर देशभक्ति का पाठ पढ़ा था। श्री विद्यालंकार जी ने गुरुकुल कांगड़ी, नेशनल कॉलेज लाहौर के अतिरिक्त राष्ट्रीय महाविद्यालय सूरत, बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, भारतीय विद्या भवन बम्बई इत्यादि अनेक राष्ट्रीय विद्यापीठों में अध्यापन कार्य किया। इतिहास लेखन का कार्य भी निरन्तर चलता रहा। वे उच्चकोटि के इतिहासकार और सफल अध्यापक थे। हम कुलवासियों का मस्तक ऐसे यशस्वी स्नातकों के स्मरण से ऊंचा हो जाता है। हमारा यह पुनीत कर्त्तव्य है कि हम उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को श्रद्धापूर्वक स्मरण करें और नई पीढ़ी को स्मरण करायें।

१९९८ श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का जन्मशती वर्ष था, तभी से यह हार्दिक इच्छा थी कि भारतवर्ष के प्रामाणिक, विद्वान लेखकों की लेखनी से उनके गौरवशाली कर्तृत्व को अभिव्यक्ति प्रदान की जाये।

गुरुकुल पत्रिका यह अंक उस भावना को साकार रूप प्रदान करने का एक लघु प्रयास मात्र है। मेरी प्रार्थना स्वीकार कर जिन मूर्धन्य लेखकों ने लेख दिये हैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना मेरा धर्म है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इन लेखों को पढ़कर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्राचीन यशस्वी स्नातकों के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्त्व को जानने की इच्छा अनेक हृदयों में अवश्य जगेगी।

### वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम

यह भूमि मेरी माता है और मैं इस पृथिवी का पुत्र हूँ। मातृभूमि की बलिवेदी पर अपने जीवन सुमन अर्पित कर हम धन्य हो जायें; 'अर्चन्नु स्वराज्यम्' स्वतन्त्रतादेवी की अर्चना में तन, मन, धन सब कुछ समर्पित कर दें, यह हम भारतवासियों की वैदिक प्रार्थना है। माताओं की माता भारतमाता का हिमालय रूपी शुभ्र किरीट, गंगा की धारा रूपी मुक्ताहार, कश्मीर की कुंकुम केसर क्यारी रूपी सौभाग्य सिन्दूर सदा अक्षुण रहे, हम कोटि–कोटि सन्तानें इस राष्ट्र देवी के चरणों की सदैव वन्दना करते रहें और इस देश के वैभव को चरमोत्कर्ष पर पहुंचायें, इससे श्रेष्ठ भावना और क्या हो सकती है? इस भावना से भावित होकर वीर भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, लाला लाजपतराय सदृश देशभक्तों ने हंसते–हंसते प्राणों की आहूति दी। मेजर आशाराम त्यागी, ब्रिगेडियर होशियार सिंह आदि वीरों ने सीमाओं की रक्षा करते करते लहू से धरती को लाल कर दिया। भारतवासियों के प्रति घृणा, तिरस्कार के दूषित भाव को लेकर पाकिस्तान का निर्माण हुआ था। पाकिस्तानी दरिन्दों ने भारत को उजाड़ने के लिए कौन सा घृणित कर्म नहीं किया? धरती के स्वर्ग कश्मीर को, वीरभूमि पंजाब को नष्ट करने के लिए उग्रवाद का जहर फैलाया, बार– बार पराजित होने पर भी निर्लज्जता पूर्वक घुसपैठ का सहारा लेकर भारत की शौर्य परम्परा को ललकारा। राष्ट्रीय सीमा नियन्त्रण रेखा का उल्लंघन कर दोस्ती के लिए आगे बढ़े हुए हाथ को धोखे से काटने का कुटिल षड़यन्त्र किया। औरगंजेब, अफजल खां, मोहम्मद अली जिन्ना की कलुषित मनोवृत्ति को जीवित रखते हुए राम, कृष्ण की भूमि पर आक्रमण कर लिया। विश्वासघात कर हमारी सैकड़ो मील भूमि पर कब्जा कर लिया। भारत के सिंहों को सोता हुआ देखकर पाकिस्तानी चूहे उछल–कूद मचाने लगे, लेकिन जब भारतीय शेरों की निद्रा टूटी और उन्होंने देखा कि चोर घर में घुस आये हैं तो वे दुश्मन पर कहर बनकर टूट पड़े। अपने प्राणों की चिन्ता न करते हुए, कारगिल की ऊँची चोटियों पर फिर से तिरंगा फहराने का पावन संकल्प लिए हुए ये वीर आगे बढ़ते रहें, विकटतम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कदम रूके नहीं। बलिदान, देशभक्ति साहस और वीरता का एक नया स्वर्णिम अध्याय जोड़ दिया, अजय आहूजा, विवेक गुप्ता, विजयन्त थापर, आमोल कालिया, हनीफुद्दीन, सौरभ कालिया, एम० विश्वनाथन सदृश युवा वीरों ने । इन महान देशभक्तों की वीरता के आगे पाकिस्तानी चूहों को भागना पड़ा। द्रास, मशकोह, जुबेरहिल, टाईगरहिल की चोटियों पर फिर से राष्ट्र ध्वज जगमगा उठा। सौ करोड़ का यह देश चट्टान की तरह एक हो गया।

ऐ वीरों! आपका अप्रितम शौर्य मण्डित बलिदान सदा अमर रहेगा। युगों युगों तक भारतीय बालक और युवक श्रद्धापूर्वक आपको स्मरण करते रहेंगे। सचमुच आप मर कर भी अमर हो गये। आपको हमारा शत–शत प्रणाम।

### हमारे कुलपति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय भारतवर्ष का एक ऐसा अनुपम शिक्षा संस्थान है, जिसका अपना स्वर्णिम इतिहास है। सौ वर्षों के कालखण्ड में इस संस्थान से शिक्षा प्राप्त स्नातकों ने जीवन के

विभिन्न क्षेत्रों में आदर्शों और सफलताओं के मानदण्ड स्थापित किये हैं। इस सफलता के पीछे जहां स्वामी श्रद्धानन्द का तप, त्याग और बलिदान है, वहां समय समय पर इस संस्था का मार्गदर्शन करने वाले आचार्यों और कुलपतियों की पावन परम्परा भी प्रमुख कारण हैं। स्वयं आचारवान् होकर शिष्यों को आचरण की शिक्षा देने वाले, अपने औरस पुत्रों की अपेक्षा शिष्यों पर अगाध स्नेह की वर्षा करने वाले आचार्यों और महर्षि कण्व, सान्दीपनि की परम्परा को जीवित रखने वाले कुलपतियों ने इस संस्था का गौरव बढ़ाया है। मध्य–मध्य में मेघों की काली घटायें भयभीत और निराश भी करती रही, किन्तु आज नई सहस्राब्दि में प्रवेश करने के लिए तैयार इस विश्वविद्यालय का स्वरूप देखकर हृदय, प्रसन्नता से भर आता है। चारों और विकास की रमणीय छटा, प्राचीन विद्याओं के साथ आधुनिकतम ज्ञान–विज्ञान का प्रकाश। एक ओर वेद, दर्शन, संस्कृत और संस्कृति है तो दूसरी ओर कम्प्यूटर, प्रबन्धन, सूक्ष्म जीव विज्ञान और पर्यावरण विज्ञान भी है। बालकों के लिए उच्च शिक्षा है तो बालिकाओं के लिए भी पृथक रमणीय परिसर है। देखते–देखते गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय सफलता के अनेक सोपान पार करता हुआ उच्च शिखर पर आरूढ़ हो गया है।

इन सारी सफलताओं का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वे है विश्वविद्यालय के यशस्वी **कुलपति डॉ० धर्मपाल जी**। विश्वविद्यालय के कुलाधिपति **श्री सूर्यदेव जी**, परिद्रष्टा **प्रो० शेरसिंह** जी एवं आर्य जगत के महान संन्यासी, गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति के उन्नायक, **पूज्य स्वामी ओमानन्द जी** से प्रेरणा एवं मार्गदर्शन लेते हुए डॉ० धर्मपाल जी ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को देश की शीर्ष शिक्षा संस्था बनाने का संकल्प किया हुआ है, और इस संकल्प को मूर्तरूप देने के लिए वे मान–अपमान, लाभ–हानि की चिन्ता न करते हुए कर्मयोगी बनकर अहर्निश संस्था के अभ्युदय में लगे हुए हैं। सौम्यता की प्रतिमूर्ति, मृदुभाषी डॉ० धर्मपाल जी से मिलकर व्यक्ति प्रसन्न हुए बिना नहीं रह सकता। वे जहां आर्य समाज के कार्यकर्त्ता और अग्रणी नेता है, सुयोग्य शिक्षक, वक्ता और लेखक हैं, वहां अत्यन्त सफल प्रशासक भी हैं। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का सम्पूर्ण मानचित्र उनकी आंखों में समाया रहता है। यही कारण है कि तीन–तीन वर्ष के दो कार्यकाल सफलतापूर्वक पूर्ण कर लेने के पश्चात शिक्षा जगत की पारखी आंखों ने उन्हें पुनः कुलमाता की सेवा का स्वर्णिम अवसर प्रदान किया है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि इस तृतीय कार्यकाल में हमारे लोकप्रिय कुलपति जी का व्यक्तित्व कुन्दन बनकर चमकेगा। हम माननीय कुलपति जी के उत्तम स्वास्थ्य, दीर्घायु और चन्द्रोज्वल कीर्ति की कामना करते हुए प्रसन्नता के इन क्षणों में हार्दिक अभिनन्दन और वन्दन करते है।

**प्रो० महावीर**
**प्रधान सम्पादक**

❖ ❖ ❖

# भौगोलिक इतिहास के परिकल्पक पण्डित जयचन्द्र विद्यालङ्कार

**आचार्य डा० विष्णुदत्त राकेश**
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

१९१९ में स्नातक होने के बाद श्री जयचन्द्र विद्यालंकार नेशनल कालेज लाहौर में इतिहास के अध्यापक नियुक्त हुए। उनके शिष्यों में क्रान्तिकारी वीर भगत सिंह भी थे। उन्हीं का पत्र लेकर श्री भगत सिंह दिल्ली में पण्डित इन्द्र विद्यावापचस्पति के समाचार पत्र में कार्य करने के लिए आए थे। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार भी उन दिनों वहीं कार्य कर रहे थे। पंजाब केसरी लाला लाजपतराय जयचन्द्र जी के इतिहास ज्ञान तथा उत्कट क्रान्तिकारी विचारों के प्रबल प्रशंसक थे। १९३३ में उनके ग्रनथ 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सुप्रसिद्ध मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया था। १९५० में कोटा में होने वाले अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वह सभापति थे। प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्व, संस्कृति तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी के वह आधारस्तंभ थे। जनपदीय सांस्कृतिक आन्दोलन की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था कि हिन्दी की प्राणदायिनी शक्ति और चेतना तो ग्रामवासिनी भारतमाता के उन मन्दिरों से प्राप्त होगी जिन्हें जनपद की संज्ञा दी जाती हैं। बाह्य भिन्नता और आन्तरिक एकता ही भारतीय संस्कृति का मुख्य लक्षण है और यही जनपदीय लोक चेतना में प्रतिबिम्बित है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, डा० सत्येन्द्र तथा बाबू वृन्दावन दास उनकी योजना के प्रबल प्रशंसक थे। भौगोलिक स्थिति से देश के इतिहास और जनजीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन–विवेचन करने वाले वह देश के प्रथम इतिहासकार थे। १९२७ में लाहौर में आयोजित इन्डियन साइंस कांग्रेस की भूगर्भ विज्ञान संगोष्ठी में डा० डडली स्टाम्प ने इस प्रविधि पर प्रकाश डाला था और फिर स्वयं १९२९ में एशिया नामक पुस्तक में एशियाई देशों की सामाजिक और आर्थिक दशाओं का विवरण देते हुए यह प्रमाणित किया था कि इतिहास पर पुरानी भौगोलिक परिस्थितियों का व्यापक तथा प्रेरक प्रभाव पड़ता है। इसके ठीक एक वर्ष बाद १९३० में पण्डित जयचन्द्र जी ने 'मातृभूमि और उसके निवासी' पुस्तक हिन्दी में लिखकर डा० डडली स्टाम्प के कार्य को आगे बढ़ाया। इस दृष्टि से अब तक भारतीय भाषाओं अथवा अंग्रेजी में कोई कार्य नहीं हुआ था। यही कारण है कि भारतीय ओरियंटल कान्फ्रेंस के सभापति पुरावेत्ता रायबहादुर डा० हीरालाल जी ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखा– 'पण्डित विद्यालंकार की यह एक नई सूझ है जो भूगोल को शास्त्र का रूप दे रही है। अभी तक भूगोलों के ग्रन्थकार किसी देश के विभाग, पर्वत, नदी, नाले इत्यादि का वर्णन देकर संतोष कर लेते थे परन्तु भौगोलिक स्थिति से इस देश के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका विवेचन जहाँ तक ज्ञात है पहले पहल पण्डित जयचन्द्र जी ने ही किया है।'

डा० हीरालाल जी के उक्त कथन में सत्यता है क्योंकि डा० स्टाम्प से भी पहले १९२५ में 'भारतीय इतिहास का भौगोलिंक आधार' लिखकर पण्डित जी अपना लक्ष्य प्रस्तुत कर चुके थे। स्वयं

पण्डित जी का कहना था कि भारत वर्ष की जातीय भूमियों को पहचानने का महत्व पहले पहल मैंने १९२१ के स्मरणीय साल दिखलाया था। उनकी पहचान जहाँ एक तरफ भारतीय इतिहास और समाजशास्त्र के अध्ययन की बुनियाद है, वहाँ भारतीय राष्ट्र के भावी जीवन की भी वही इकाइयाँ हैं। इतिहास–समाज शास्त्र के विद्यार्थी के लिए उनका जीतना महत्व है, राष्ट्रीय जीवन के नेताओं के लिए उससे भी कहीं अधिक।'

इस दृष्टि से पण्डित जी ने १९२१ में कानपुर से प्रकाशित पत्रिका 'प्रभा' में 'भारतवर्ष का स्वाभाविक स्वरूप : स्वाधीन सहोदर जातियों का एक स्वेच्छाकृत संघ' लेख लिखकर अपनी स्थापना विद्वानों के सम्मुख रखी थी। इस लेख ने वर्लिन में इतिहास के अध्येता डा० विनाय कुमार सरकार को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'द कल्चरल हेरिटेज' में पण्डित जी की शोध सामग्री का आधार रूप में उपयोग किया। डा० काशी प्रसाद जायसवाल तथा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पण्डित जी के कार्य का भरपूर समर्थन किया। पण्डित जी की इस नई दृष्टि ने राष्ट्रीय इतिहास लेखन की नींव डाली। उनके इस कथन में वास्तविकता निहित है कि भारतवर्ष की शताब्दियों से मंद हो चुकी जातीय चेतना आज फिर जाग रही है, उस दशा में उस जाति या राष्ट्र के प्रत्येक अंग को अपने ठीक ऐतिहासिक स्वरूप को पहचानना आवश्यक है। यही कारण है कि अपने देश के राष्ट्रीय जीवन में भी आज हम प्रत्येक पुराने जातीय विभाग को अपनी एकता को फिर से स्थापित और सिद्ध करने के लिए बेचैन होता देखते हैं, पण्डित जी ने इस सम्बन्ध में हिन्दूकुश, हिमालय, उत्तरभारतीय मैदान, विन्ध्यमेखला और दक्खिन के चार विभागों के नये प्रस्तावित आधार पर प्राचीन मण्डलों के निर्धारण की अपेक्षा प्राचीन काल की जनपद विभाग शैली की संगति को स्वीकार किया तथा उत्तरापथ और दक्षिणापथ के पाँच स्थलों का निर्धारण किया। पण्डित जी ने सप्रमाण बताया कि हिन्दी खण्ड या मध्यमण्डल के चार विभाग हैं– अन्तर्वेद, विहार, चेदिकोशल तथा राजस्थान। भौगोलिक आधार पर स्वाभाविक प्रान्तों के गठन का समर्थन करते हुए उन्होंने हिन्दी खण्ड, पूरब खण्ड, दक्खिन खण्ड, पच्छिम खण्ड, उत्तर पच्छिम खण्ड तथा पर्वत खण्ड का विस्तृत विवरण दियां तथा भारत वर्ष के प्रान्तों का परिगणन करते हुए भारत की प्रमुख भाषाओं का आधार वहाँ की नस्लों को बताया। आर्य और द्राविड़, आर्य वंश और आर्य स्कंध, दरदी शाखा, ईरानी शाखा, आर्यावर्ती शाखा, मुंड (शावर) और किरात (तिब्बतवर्मी) चीन किरात, स्यामचीनी तथा तिब्बती वर्मी या किरात स्कंध का विवेचन किया। इस परिप्रेक्ष्य में उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला की भारतवर्ष की लिपियों में चाहे जितने परिवर्तन होते रहे हैं पर वर्णमाला लगभग एक ही रही है। आज वह समूचे भारत, तिब्बत, बर्मा, स्याम और कम्बुज की तथा अंशत: मलायु द्वीपावली के बाकी अंश, अफगान स्थान और मध्य एशिया की भी वही वर्णमाला थी। इस प्रकार वर्णमाला के सम्बन्ध में आर्य और द्राविड़ का भेद कुछ नहीं है। आर्य वर्णमाला को द्राविड़ भाषाओं ने भी अपना लिया है और वही वर्णमाला भारतवर्ष के पड़ोस की किरात भाषाओं (तिब्बती, नेवारी), स्यामी भाषा और आग्नेय (तलैंग, कम्बुजी, जावाद्वीप की कीव आदि) भाषाओं ने भी अपना ली है। हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि पारिभाषिक शब्द संस्कृत से तथा सिंहली पालि से लेती हैं। तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम संस्कृतखान की शरण लेती हैं। इस अंश में भी आर्य और द्राविड़ कुछ भेद नहीं रहा। तिब्बती तथा मंगोल भाषा का पुराना वाङ्मय भारतीय वाङ्मय का अनुवाद है। तात्पर्य यह कि समूचे भारत का साहित्य और वाङ्मय एक है।' इस प्रकार जातीय भूमि, नस्ल तथा भाषा के आधार पर विदेशी इतिहासकारों द्वारा किया गया विभाजन मिथ्या और निराधार है। भारतीय इतिहास लेखन की आधारभूत सामग्री पुराणों में निहित हैं। विदेशी विद्वान पार्जीटर

ने पुराणों की सामग्री का पर्यालोचन करते हुए कुछ बातें कहीं। पण्डित जी ने पार्जीटर की स्थापनाओं से असहमति जताते हुए पाठ की शुद्धि और नई व्याख्या पर बल दिया। उन्होंने कम्बोज देश पर सर्वथा नई सामग्री प्रस्तुत की। प्रो० क्रूशे तथा डा० ग्रियर्सन की कल्पना को उन्होंने निराधार बताया। डा० हेमचन्द्र राय चौधुरी तथा डी० आर०भण्डारकर की स्थापना को भी उन्होंने अस्वीकार कर दिया। कालिदास द्वारा रघुवंश में प्रस्तुत सामग्री का उन्होंने ऐतिह्य प्रमाणित करते हुए बताया कि रघु की दिग्विजय का वर्णन यथार्थ है क्योंकि वह भूगोल, जनविज्ञान तथा भाषाविज्ञान से संगत है। पण्डित जी ने पुराणवर्णित स्थानों की पहचान में भी मौलिकता दिखाई है। उदाहरण के लिए शुक्तिमान् पर्वत की पहचान के विवाद में वह डा० रमेशचन्द्र मजूमदार पर कटाक्ष करते हुए लिखते हैं कि कुनार का स्रोत हिन्दूकुश की पूरवी जड़ में है जिसके दूसरी तरफ पामीर ए बरवां है। डा० मजूमदार जैसे प्रमाणिक विद्वान उसमें और सुलेमान में भेद नहीं कर सकते, इससे केवल यही सूचित होता है कि भौगोलिक विषयों को हमारे देश में अभी तक बहुत हलकेपन से हथियाया जाता है।

पण्डित जी में शोध की ईमानदारी पर्याप्त मात्रा में थी। वह स्थापनाओं में दुराग्रही नहीं थे। उन्होंने अपनी स्थापनाओं में परिवर्धन तथा संशोधन भी किया है। जैसे राल्चा प्रदेश को पहले वह भारत से बाहर का समझते थे पर बाद में उन्होंने स्वीकार किया कि वही कम्बोज देश है क्योंकि वह कश्मीर के ठीक उत्तर है तथा तुखार या बदख्शां से उसकी एक तरफ की पूरी सीमा सटी हुई है। पार्जीटर का विरोध यत्र तत्र किया गया है। जैसे पुराणों में भारत के पच्छिम खण्ड को अपरान्त कहा गया है। वायु पुराण में अपरीता: पाठ है। पार्जीटर इसे अशुद्ध मानते हैं पर पण्डित जी इसे शुद्ध मानते हैं। उत्तरापथ के अपरीत आधुनिक अपरीदियों के पूर्वज थे उन्होंने पाणिनि, बसुबन्धु तथा आसंग को पेशावरी पंजाबी बताया। आवश्यकता पड़ने पर पण्डित जी ने पारिभाषिक शब्दों का निर्माण भी किया। जैसे 'कैचमेंट एरिया' शब्द के लिए 'प्रस्रवण क्षेत्र' तथा सिन्क्लिनट के लिए 'अन्त: प्रवण' शब्द का निर्माण उन्होंने किया। चोटी के अर्थ में धार शब्द पालि के पब्भार तथा संस्कृत के प्राग्भार के निकट है। ताँता के अर्थ में यह शब्द उपयुक्त है। धौलाधार और सिरी कन्दधार शब्द इसका समर्थन करते हैं। यहाँ उन्होंने डा० स्टाइन की धारणा का विरोध किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इतिहास तथा भूगोल जैसे गंभीर विषयों का हिन्दी में लेखन तथा विचार मंथन सर्वप्रथम पण्डित जी ने जिस विद्वता तथा सूझबूझ के साथ किया, वैसा उनसे पूर्व नहीं हो सकता था। डा० जायसवाल ने पटना से ३१ जुलाई १९३१ को उन्हें पत्र लिखकर सम्मति दी थी कि आपने विभिन्न विद्वानों की अब तक की नई खोजों का उपयोग किया है और उनमें अपनी नई खोजें जो महत्वपूर्ण हैं, जोड़ी हैं। इस प्रकार समन्वयात्मक ग्रन्थ लिखने की अब तक किसी ने चेष्टा न की थी। आचार्य गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने १९२९, १९ सितम्बर को लिखा था— ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशक से ही हिन्दी भाषा का गौरव बढ़ सकता है।

श्री जयचन्द्र जी ने भारतीय इतिहास की रूपरेखा तथा भारतभूमि और उसके निवासी ग्रन्थ लिखकर भारत के और विशेषत: हिन्दी के गौरव को वैसे ही बढ़ाया जैसे ओझा जी ने भारतीय लिपि माला ग्रन्थ लिखकर हिन्दी को दीप्ति प्रदान की थी। खेद है, जयचन्द्र जी की पद्धति पर भारतीय इतिहासकारों ने अपेक्षित कार्य नहीं किया।

❖ ❖ ❖

# इतिहास लेखन में राष्ट्रीय दृष्टि के प्रस्तोता– पं० जयचन्द्र विद्यालंकार

डा० भवानीलाल भारतीय
८/४२३, नन्दन वन, जोधपुर

"इतिहास शुष्क घटनाओं तथा विगत का स्थूल इतिवृत्त ही नहीं है अपितु वह अतीत के सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन की धड़कन को पहचानने का प्रमुख साधन है", इस तथ्य का उद्घाटन करने वाले प्रसिद्ध इतिहासकार जयचन्द्र विद्यालंकार ने जहाँ एक प्रबुद्ध विद्वान् का जीवन जिया वहाँ राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेकर मातृभूमि के प्रति अपने कर्त्तव्य को भी निभाया।

उनका जन्म वर्तमान पाकिस्तान के जिला लायलपुर के ग्राम डिजकोट में करमचंद नारंग के यहाँ ५ मार्च १८९८ को हुआ। उनके पिता ने मुलतान में शिक्षा प्राप्त करते समय पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के व्याख्यान सुने थे अत: उनका झुकाव आर्यसमाज की ओर गत शताब्दी के अन्तिम दशक में हो गया था। करमचन्द नारंग आर्य समाज के सुधारवादी विचारों से इस हद तक प्रभावित थे कि उन्होंने अपनी दुकान पर दो चमारों को नौकर रक्खा। उनके यहाँ आटा पीसने का काम भी चमारिन को सौंपा हुआ था। जब १९०२ में महात्मा मुन्शीराम ने गंगा किनारे गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की तो बालक जयचन्द्र को उसमें प्रविष्ट कराया गया। यहाँ से उन्होंने १९१९ में स्नातक बन कर विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त की। इतिहास के अध्ययन में उनकी विशेष रूचि थी और अध्ययन समाप्त करने के साथ ही उन्होंने निश्चय किया कि भारत के वास्तविक इतिहास के शोध और लेखन को ही वे अपने जीवन का उद्देश्य बनायेंगे। कई वर्षों तक वे गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापक रहे। १९२० में असहयोग आन्दोलन के दिनों में जब सरकारी स्कूलों और कालेजों के बहिष्कार की आंधी आई तो अनेक स्थानों पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई। इसी समय लाहौर में नेशनल कालेज की स्थापना हुई और जयचन्द्र जी की वहाँ इतिहास के प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति हुई। एक अन्य आर्यसमाजी विद्वान पं० उदयवीर शास्त्री इसी कालेज में दर्शनशास्त्र पढ़ाते थे। शहीद भगत सिंह और उनके साथी सुखदेव ने इन तेजस्वी आचार्यों के चरणों में बैठकर देशभक्ति का पाठ पढ़ा था।

पं० जयचन्द्र ने इतिहास की राष्ट्रीय व्याख्या ही नहीं की, देश के स्वतंत्रता संग्राम में उन्होंने सक्रिय भाग भी लिया। १९४२ के आन्दोलन में उन्हें कारावास का दण्ड मिला। वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के वर्षों तक सदस्य रहे। उनके जीवन की एक उल्लेखनीय घटना का विवरण देना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा। बिहार षडयंत्र केस में पटना में कुछ क्रान्तिकारियों पर मुकद्मा चलाया गया तो उनके विरूद्ध अदालत में जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये उनमें जयचन्द्र जी द्वारा लिखित एक पुस्तक 'भारत का भौगोलिक आधार भी थी। अभियोजन पक्ष की दलील यह थी कि इस पुस्तक में देश के राजमार्गों और सड़कों के महत्व का जिस रूप में वर्णन किया गया है उसे पढ़कर इन क्रान्तिकारियों को यह पता लग जाता है कि किस सड़क का पुल तोड़ना है तथा किस रेलमार्ग में बाधा खड़ी की जा सकती है। अभियुक्तों की ओर से प्रसिद्ध इतिहासज्ञ तथा पुरातत्ववेत्ता डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने पैरवी की थी और वे पं० जयचन्द्र

जी के विवेचन कौशल से अत्यन्त प्रभावित हुए थे।

उनके द्वारा लिखित इतिहास के प्रमुख ग्रन्थ हैं— (१) भारतभूमि और उसके निवासी (२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (३) भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न (४) इतिहास प्रवेश अथवा भारतीय इतिहास का अनुशीलन (५) भारतीय कृष्टि का क ख (६) भारतीय इतिहास की मीमांसा आदि। भारतीय इतिहास की रूपरेखा पर उन्हें १९३३ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने मंगलाप्रसाद पुरस्कार प्रदान किया जो साहित्य जगत् का सर्वश्रेष्ठ सम्मान था। भारतीय इतिहास परिषद ने उनके सम्पादन में २० खण्डों में भारत का विस्तृत इतिहास लिखवाने की एक वृहद् योजना बनाई थी किन्तु १९४२ के आन्दोलन में जयचन्द्र जी के भाग लेने और जेल जाने के कारण यह कार्य आगे नहीं बढ़ा। अंग्रेजी सरकार ने उन्हें लाहौर के किले तथा कैम्बलपुर (अटक) की जेल में रक्खा। १९५० में उन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद के लिए चुना गया। यह अधिवेशन राजस्थान के कोटा नगर में सम्पन्न हुआ। इसके बाद सम्मेलन में गुटबाजी बढ़ी और भाषा और साहित्य का यह अखिल भारतीय मंच पारस्परिक द्वन्द्व तथा विग्रह का शिकार होकर सर्वथा निष्प्राण हो गया। उनकी प्रबल इच्छा थी कि भारत के राष्ट्रीय जागरण का वास्तविक इतिहास पूर्ण शोध तथा गवेषणा के पश्चात लिखा जाये तथा इसमें महर्षि दयानन्द तथा उनके अनुयायियों की भूमिका को विस्तारपूर्वक संबद्ध किया जाये। इसके लिए उन्होंने बहुत प्रयत्न किये। इसके लिए उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी के तत्कालीन कुलपति तथा मुख्याधिष्ठाता पं० इन्द्र विद्या वाचस्पति तथा पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार से परमर्श किया तथा गुरुकुल में ही ऐसा शोध केन्द्र स्थापित करने का प्रस्ताव रक्खा। इस बारे में उन्होंने समय समय पर प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू, तत्कालीन शिक्षा मंत्री डा० कालूलाल श्रीमाली, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डा० चिन्तामणि द्वारकानाथ देखमुख तथा प्रमुख भाषा वैज्ञानिक डा० सुनीति कुमार चटर्जी से व्यापक परामर्श किया था। इस बसका विस्तृत विवरण उन्होंने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन' में दिया है जो प्रकारान्तर से उनकी आत्मकथा ही है।

देश के स्वतंत्रता संग्राम में ऋषि दयानन्द की भूमिका को सुदृढ़ प्रमाणों से स्थापित करने का उनका उद्योग आर्य समाज के इतिहास का एक ज्वलन्त अध्याय है। इस तथ्य को उन्होंने उपर्युक्त पुस्तक में विस्तार से प्रस्तुत किया है। आगे चलकर उनके ही एक शिष्य पृथ्वी सिंह महता विद्यालंकार ने अपने ग्रन्थ हमारा राजस्थान (१९५० में प्रकाशित) में इस विषय को सप्रमाण विवेचित किया है। सितम्बर १९५४ में विद्यालंकार महोदय ने लगातार छ: दिन तक अपने क्रान्तिकारी जीवन के संस्मरण पृथ्वी सिंह महता तथा दो अन्य सज्जनों को सुनाये थे। उन लोगों ने इन्हें नोट भी किया था। यदि वे प्रकाशित होते तो आजादी की लड़ाई के एक विस्तृत अध्याय का प्रकाशन हो जाता। भारतीय संविधान के हिन्दी अनुवाद के लिए गठित समिति के भी वे सदस्य थे। पंजाब सरकार ने हिन्दी सेवाओं के लिए उन्हें सम्मानित किया था। २९ अक्टूबर १९५८ को लिखे अपने एक लेख में उन्होंने अपना यह मन्तव्य स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है— "भारतीय राष्ट्र जब यूरोपीयों से हार कर पस्त पड़ा था तब बुद्धिवाद का शंख बजा कर दयानन्द ने उसे फिर जगाया। वह इतिहास को पलटने वाली घटना थी।" साहित्य और इतिहास की इस अमर विभूति का निधन २१ फरवरी १९७७ को हुआ। उनका १०१ वाँ जन्मदिन ५ मार्च १९९९ को है।

❖ ❖ ❖

# श्री जयचन्द्र विद्यालंकार की साधना के कुछ पक्ष– काशी के वातायन से

प्रो० अमरनाथ पाण्डेय
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत–विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,वाराणसी
एवं पूर्व विजिटिंग प्रोफेसर
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री जयचन्द्र विद्यालङ्कार का वाराणसी से विशेष सम्बन्ध रहा। उनका जन्म ४ दिसम्बर, १८९८ में लायलपुर, पंजाब में हुआ और निधन ११ फरवरी, १९७६ को।

यदि श्री जयचन्द्र जी के वाराणसी से सम्बन्द्ध कार्यों की समीक्षा न की जाय, तो उनका जीवनवृत्त अधूरा रहेगा। प्रसिद्ध इतिहासविद् डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल पटना में रहते थे। श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री जयचन्द्र आदि भी उनसे मिलने पटना जाते थे और श्री जायसवाल जी के आवास पर कुछ समय तक रहते थे। श्री जायसवाल जी के आवासपर ही वाराणसी के प्रसिद्ध लेखक तथा कलाविद् श्री रायकृष्णदास जी से श्री जयचन्द्र जी का परिचय हुआ। श्री जयचन्द्र जी वाराणसी आये और श्री शिवप्रसाद गुप्त जी मिले। जयचन्द्र जी भारतीय इतिहास पर पुस्तक लिखना चाहते थे, अत: उसके लिए स्थान तथा आर्थिक सहयोग चाहते थे। जयचन्द्र जी कुछ समय तक काशी विद्यापीठ से सम्बद्ध रहे तथा इतिहास के प्राध्यापक के रूप में कार्य करते रहे। श्री जयचन्द्र जी श्री रायकृष्णदास जी से मिले। राय साहब का एक मकान रामघाट पर था। श्री रायकृष्णदास के पुत्र डॉ० आनन्दकृष्ण से मालूम हुआ कि उनके पिता जी ने श्री विद्यालङ्कार के आवास की व्यवस्था गङ्गा के तट पर स्थित रामघाट के अपने मकान पर कर दी। वहाँ निवास करते हुए श्री विद्यालङ्कार ने 'इतिहास–प्रवेश' की रचना की। 'इतिहास–प्रवेश' का प्रथम भाग सरस्वती पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद से १९३८ में प्रकाशित हुआ था। उस समय श्री विद्यालङ्कार जी काशी विद्यापीठ में प्राध्यापक थे। पुस्तक की 'वस्तु–कथा' के अन्त में इस प्रकार उल्लेख प्राप्त होता है– काशी विद्यापीठ, बनारस, कार्तिक पूर्णिमा, १९९५ वि०पुस्तक बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी को समर्पित है। पुस्तक में जो चित्र दिये गये हैं, उनके सम्बन्ध में श्री विद्यालङ्कार का कथन इस प्रकार है– "पुस्तक के चित्रों के चुनाव में प्रामाणिकता का पूरा ध्यान रखा गया है। एक–एक चित्र को सम्मिलित करने से पहले उसके सम्बन्ध में मैंने अपने मित्र रायकृष्णदास जी और डॉ० मोतीचन्द्र जी

के साथ बैठकर विवेचना और आलोचना की है।"—वस्तुकथा, पृ० ३। इतिहास—प्रवेश के प्रथम भाग की वस्तुकथा में इतिहास के विषय में अपनी दृष्टि का उल्लेख किया है—"राष्ट्रीय दृष्टि से मनन करने का अर्थ यह हर्गिज नहीं कि हम अपने राष्ट्र की कमजोरियों को नजरअन्दाज करें। उल्टा उन्हीं को समझने के लिए हमें अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और हमीं उन्हें ठीक समझ सकते हैं, क्योंकि अपने इतिहास को समझने के लिए जो अन्तर्दृष्टि हममें हो सकती है, वह विदेशियों में नहीं हो सकती।"— वस्तुकथा, पृ० २।

प्रथम भाग की वस्तुकथा में श्री विद्यालङ्कार ने बनारस के श्री दुर्गाप्रसाद तथा श्री श्रीनाथ साह के प्रति आभार व्यक्त किया हैं।

'इतिहास—प्रवेश' का द्वितीय भाग १९३९ में निकला था। यह सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था।

मुझे 'इतिहा—प्रवेश' के द्वितीय भाग (संस्करण—१९३९) की उस प्रति का अवलोकन करने का भी सौभाग्य मिला, जिसे श्री विद्यालङ्कार ने अपने हस्तलेख में भारतीय पुरातत्व विभाग के विद्वान्अध्यक्ष रावबहादुर काशीनाथ नारायण दीक्षित को समर्पित किया है। यह प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारत—कला भवन में विद्यमान है।

'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' का भूमिकाखण्ड १९३० के उत्तरार्ध में तथा १९३१ के प्रारम्भ में काशी में लिखा गया। श्री विद्यालङ्कार श्री काशी प्रसाद जायसवाल से अत्यधिक प्रभावित थे। इस ग्रन्थ के लेखन में उन्होंने मन्त्रों तथा श्लोकों के अनुवाद के लिए पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा से सहायता ली थी। सिंहल शब्दकोश के कार्यालय के श्रीयुत जूलियस द लानरेल ने पत्रद्वारा श्री विद्यालङ्कार के कई प्रश्नों का समाधान किया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी मेरे वेद के गुरु थे। प्रो० सक्सेना भाषाविज्ञान तथा साहित्य के।

श्रीविद्यालङ्कार को प्रान्तीय नाम मालूम करने के लिए सिंहल प्रवासी भिक्खु आनन्द कौसल्यायन, मद्रास के श्रीयुत हरिहर शर्मा, काशीविद्यापीठ के भूतपूर्व छात्र श्री रामन्ना, श्री मालचन्द्र आप्टे, तथा श्री पटनायक से विशेष सहायता मिली थी। 'भारतीय इतिहास की रुपरेखा' की वस्तुकथा में श्री जयचन्द्र जी लिखते हैं कि काशी विद्यापीठ के पुस्तकालय का उपयोग आचार्य नरेन्द्रदेव जी की कृपा से हुआ था तथा काशी सरस्वती भवन का उपयोग डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री की कृपा से। डॉ०काशीप्रसाद जायसवाल तथा राहुल जी श्री विद्यालङ्कार के विशेष प्रेरक थे।

डॉ० आनन्दकृष्ण जी से वाराणसी में मालूम हुआ कि श्री जयचन्द्र जी अत्यधिक परिश्रमी थे। जब इतिहास पर पुस्तक लिख रहे थे, तब छः—छः घण्टे एक आसन पर बैठे रहते थे और अपने शिष्यों को लिखाते जाते थे। वे लेखन में मूल के आधार पर ही अपना मत स्थिर करते थे। पाश्चात्य भाषाओं में उपलब्ध सामग्री का उपयोग उन भाषाओं के माध्यम से ही करते थे। जो तथ्य उपलब्ध होते थे, उनका पूर्ण परीक्षण करने के बाद ही अपने

लेखन में उनका सन्निवेश करते थे।

श्री विद्यालङ्कार ने 'इतिहास–परिषद्' नामक संस्था बनाई थी। काशी विद्यापीठ, वाराणसी में इसका विशाल आयोजन हुआ था। सम्मेलन में देश के उच्चकोटि के इतिहासविद् उपस्थित हुए थे। इसमें भारतीय इतिहास के लेखन के सम्बन्ध में निश्चय हुआ था। इतिहास–लेखन के लिए श्री राजेन्द्र प्रसाद जी ने एक लाख रु० की धनराशि उपलब्ध करायी थी। अनेक परिस्थितियों के कारण इतिहास–लेखन का कार्य आगे न बढ़ सका।

श्री विद्यालङ्कार का संस्कृत–ज्ञान परिष्कृत था। उनकी पुस्तक 'उत्कीर्ण शिलालेखाज्जलि में पाँच' में पाँच शिलालेखों का संग्रह है। शिलालेखों का हिन्दी भाषा में अनुवाद है और संस्कृत में महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ दी गयी हैं। जिस समय यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी, उस समय श्री विद्यालङ्कार साहित्य–सम्मेलन, प्रयाग के अध्यक्ष थे। पुस्तक मास्टर खेलाड़ी लाल, बनारस से प्रकाशित हुई थी। उन्होंने पुस्तक अपने गुरु न्याय–साङ्ख्य–वेदान्त–तीर्थ श्रीमत्पण्डित योगेन्द्रनाथ भट्टाचार्य को समर्पित की थी। श्री भट्टाचार्य के प्रति श्रीविद्यालङ्कार के हृदय में अत्यधिक श्रद्धा थी।

यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि श्री जयचन्द्र जी क्रान्तिकारी थे। उनकी गतिविधियाँ बहुत गुप्त रहती थीं। वे और उनके मित्र कूटों के आधार पर व्यवहार करते थे। जो क्रान्तिकारी थे, वही उन कूटों को जानते थे।

डॉ० आनन्दकृष्ण जी से मालूम हुआ कि श्रीविद्यालङ्कार जी श्री रायकृष्णदास के घर पर बनने वाले भोजन में प्रयुक्त होने वाले धृत आदि के सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिया करते थे तथा उनकी प्रामाणिकता तथा अप्रमाणिकता के विषय में अपना मत रखते थे। श्रीविद्यालङ्कार का मत रहता था कि भोजन की पौष्टिकता नष्ट न हो तथा जहाँ तक सम्भव हो, उसे सादा रखा जाय।

❖ ❖ ❖

# बहु-आयामी जयचन्द्र विद्यालंकार

**प्रो० वेदव्रत वेदालंकार**

C-198, सर्वोदय एन्क्लेव

नई दिल्ली-१७

भाई मनोहर जी से यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल विश्वविद्यालय की ओर से स्वर्गीय श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार की स्मृति में एक संस्मरण ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। मनोहर जी का आग्रह था कि क्योंकि मैं इतिहास का विद्यार्थी एवं अध्यापक रहा हूँ, इसलिये उनके सम्बन्ध में कुछ लिखूं। आज ८८ वर्ष की अवस्था में स्मृतियां कुछ धुंधली होनी प्रारम्भ हो गई हैं और स्वास्थ्य भी कुछ ठीक नहीं है, फिर भी कुछ लिखकर भेज रहा हूँ।

सबसे पहले मैंने उन्हें एक राष्ट्रीय विद्यापीठ में अध्यापक के रूप में जाना था तब मैं गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में विद्यार्थी था। असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ होने पर गांधी जी के आह्वान् पर लाला लाजपतराय ने लाहौर में अपने 'सर्वेंट्स ऑफ दी पीपल सोसाइटी' के परिसर में 'नेशनल कालेज' की स्थापना की थी। मेरे बड़े भाई (स्वामी) देशराज जी और (सरदार) भगतसिंह उसमें दाखिल हो गए थे और समकक्ष थे। जयचन्द्र जी वहां उपाध्यक्ष थे। गुरुकुल में दीर्घावकाश के समय जब मैं लाहौर गया, तब मेरा उनसे साधारण सा परिचय हुआ। वैसे उन्होंने लाहौर के नेशनल कालिज के अलावा गुरुकुल कांगड़ी, राष्ट्रीय महाविद्यालय सूरत, बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ भारतीय विद्याभवन बम्बई, इत्यादि अनेक राष्ट्रीय विद्यापीठों में अध्यापन किया और ख्याति प्राप्त की। बाद में जब मैं गुरुकुल विश्वविद्यालय हरिद्वार में पहुँचा तो वहाँ साधारण महाविद्यालय में मेरा ऐच्छिक विषय इतिहास था। उस समय मैंने जयचन्द्र को एक उत्कृष्ट कोटि के मौलिक इतिहास लेखक के रूप में जाना। तब तक उनके शोध पर आधारित कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे और इसके लिये उनकी प्रशंसा भी हुई थी। मुझे उनकी कुछ पुस्तकें पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ, जिससे मुझे बहुत लाभ हुआ और मैं प्रभावित हुआ, और मेरे मन में उनके प्रति सम्मान की भावना बन गई।

श्री जयचन्द्र जी ने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनके कारण वे ख्याति प्राप्त इतिहास लेखक, समालोचक और शोधकर्त्ता के रूप में जाने गए। हिन्दी में मौलिक इतिहास लेखक के रूप में उनका अपूर्व योगदान सदा स्मरणीय रहेगा। वे कुछ सरकारों और विद्वत्परिषदों द्वारा पुरस्कृत और सम्मानित किये गए। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' (दो भाग) पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें प्रतिष्ठित मंगलाप्रसाद पुरस्कार से सम्मानित किया। पंजाब सरकार ने साहित्य सेवा के लिये सम्मानित किया। भारत सरकार ने भारतीय कृष्टि का क ख पर सम्मानित किया और भारतीय संविधान का हिन्दी अनुवाद करने वाली समिति का सदस्य नियुक्त किया। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वे एक वर्ष प्रधान भी रहे। भारतीय इतिहास परिषद के वे संस्थापक प्रधान मंत्री थे।

सन् १९३७ में जब मुझे गुरुकुल विश्वविद्यालय में इतिहास के उपाध्याय के रूप में अध्यापन का अवसर मिला तब मैं जयचन्द्र जी के और अधिक निकट आया। वे और उनकी धर्मपत्नी कौशल्या जी जब कभी गुरुकुल आये तो मुझे उनके आतिथ्य का सौभाग्य प्राप्त होता रहा। उनके साथ इतिहास, राजनीति विज्ञान और समाज शास्त्र तथा देश की तात्कालिक अवस्था के विषय में ज्ञानचर्चा होती थी। उनकी कुछ बातें मेरे स्मृति पटल पर भलीभांति अंकित हैं। वे प्रचण्ड राष्ट्रवादी थे। प्रत्येक बात को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखते और विचारते थे। एक सक्रिय राष्ट्रवादी के रूप में उनका उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलनों से भी सम्बन्ध रहा। वे काफी समय तक अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य भी रहे और जेलयात्रा भी की। आचार्य स्वामी अभयदेव जी ने मुझे गुरुकुल विश्वविद्यालय के साधारण विद्यालय (आर्ट्स कालिज) के आचार्य के अतिरिक्त विश्वविद्यालय का शिक्षा अध्यक्ष भी बना रखा था। इस हैसियत से मुझे शिक्षा क्षेत्र के अनेक गणमान्य व्यक्तियों से मिलने तथा कुछ विश्वविद्यालयों के साथ सम्पर्क स्थापित करने तथा पत्राचार का अवसर प्राप्त हुआ। सन् १९४२ के दीर्घावकाश में मैं इसी सिलसिले में हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये बनारस गया हुआ था और वहां जयचन्द्र जी के पास ही ठहरा हुआ था। उनके निवास पर कुछ मंत्रणायें चल रही थी। गांधी जी का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन प्रारम्भ होने वाला था। एक दिन उन्होंने मुझे कहा कि एकाध दिन के बाद रेल मार्ग से जाना ठप्प हो जायेगा, तुम जल्दी निकल जाओ। क्योंकि मेरा परिवार अवकाश के कारण पंजाब में डलहौजी पहाड़ पर गया हुआ था, उन्होंने मेरे जिम्मे लगाया कि मैं पंजाब के क्रान्तिकारी व कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं से सम्पर्क स्थापित करके उन्हें वहां की राजनीतिक परिस्थिति और गतिविधियों से अवगत कराता रहूँ। इस बात को विस्तार से लिखना यहां अभिप्रेत नहीं है। मेरा अभिप्राय यह अवगत कराने का है कि वे किस प्रकार और कितने समर्पित भाव से राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े हुए थे।

उनके जिस परामर्श ने मुझे सब से अधिक प्रभावित और प्रेरित किया उसका उल्लेख किये बिना मेरे संस्मरण अपूर्ण रहेंगे। उन्होंने कहा कि अन्य विषयों की भांति, हमारे इतिहास लेखक, विशेषतया आंग्ल भाषा में लिखने वाले, पाश्चात्य चिन्तन से बहुत प्रभावित रहे हैं। हमें उसे बदलकर राष्ट्रीय और निष्पक्ष दृष्टि से सोचना और लिखना होगा। दूसरी बात उन्होंने कही कि साधारणतया लेखक दूसरों द्वारा लिखी बातों को आधार बना कर लिख मारते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम स्वयं मूल स्रोतों तक जाकर अपने विचार बनायें और उनको आधार बना कर लिखें। मुझे यह बात बहुत जंची और मैंने अपने अध्यापन और लेखन में वैसा करने का ही प्रयास किया। लगभग दस साल के अध्ययन–अध्यापन के आधार पर मैंने प्राचीन 'भारतीय राजशास्त्र' पर एक बड़ा ग्रन्थ लिखा। उसका क्या हुआ, इस विस्तार में मैं यहां नहीं जाना चाहता।

अट्ठासी वर्ष की आयु में, स्वास्थ्य और स्मृति के कुछ क्षीण हो जाने के बावजूद, मैंने स्वर्गीय श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार के सम्बन्ध में अपने कुछ संस्मरण और उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में लिखने का कुछ प्रयास किया है। यह उस बहुआयामी विद्वान्, समालोचक, शोधकर्त्ता और राष्ट्रवादी चिन्तक व शिक्षक को मेरी श्रद्धांजलि है।

❖ ❖ ❖

# अग्निपुञ्ज—जयचन्द्र

**श्री सुभाष विद्यालंकार**

पूर्व कुलपति—गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार

सन् १९३७ की बात है उन दिनों मुझे गुरुकुल कांगड़ी में प्रविष्ट कराया गया था। घर और गुरुकुल के वातावरण में जमीन आसमान का अन्तर था। तब मेरे मन पर जो बातें अंकित हुई थी उनमें गुरुकुल के ख्याति प्राप्त कुछ स्नातकों के नाम भी थे। इन्हीं में पण्डित जयचन्द्र विद्यालंकार भी थे। उन्हीं दिनों जयचन्द्र जी को उनके ग्रन्थ 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' पर मंगला प्रसाद पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। तब इस पुरस्कार को प्राप्त करना अद्वितीय विद्वत्ता माना जाता था। बड़ी कक्षा में पहुँचने पर मुझे उनके ग्रन्थ 'इतिहास प्रवेश' को पढ़ने का अवसर मिला। बचपन से ही मुझे इतिहास के प्रति विशेष आकर्षण नहीं था, किन्तु जयचन्द्र जी नें इतिहास का प्रतिपादन अनूठी शैली में किया है। वे किसी काल का इतिहास लिखते समय सम्पूर्ण भारत का राजनीतिक परिदृश्य प्रस्तुत करते हैं। अब तक मैंने इतिहास की जो पुस्तकें पढ़ी थी उनकी अपेक्षा जयचन्द्र जी की प्रस्तुति सर्वथा निराली थी। उनके ग्रन्थ को पढ़ कर पाठन के मन पर सारे देश की राजनीतिक परिस्थिति का दृश्य अंकित हो जाता है। जयचन्द्र जी इतिहास की घटनाएं प्रस्तुत करते हुए इनकी भौगोलिक पृष्ठभूमि भी स्पष्ट करते जाते हैं। एक दिन मैंने अपने इतिहास के अध्यापक जी से पूछा कि जयचन्द्र जी ये सब घटनाएं कैसे लिखते हैं। मेरे अध्यापक महोदय स्वयं गुरुकुल के मेधावी स्नातक थे और सम्भवत: जयचन्द्र जी के शिष्य भी। उन्होंने बताया कि पण्डित जयचन्द्र जी अपने अध्ययन कक्ष में सम्पूर्ण भारत का मानचित्र फैलाकर देश की सीमाओं, पड़ोसी देशों और सीमावर्ती भौगोलिक परिस्थितियों का सूक्ष्म निरीक्षण करते रहते हैं। इस एकान्त मनन और चिन्तन के परिणाम स्वरूप वे जिन ऐतिहासिक तथ्यों और निष्कर्षों पर पहुँचते हैं उन्हें लिखते जाते हैं, इसलिये उनकी शैली अन्य इतिहासकारों से सर्वथा भिन्न हैं। वे देश के समग्र इतिहास और तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों को इतिहास वेत्ता की निष्पक्ष दृष्टि से प्रस्तुत करते जाते हैं।

वर्ष बीतते गये, किन्तु मुझे गुरुकुल में जयचन्द्र जी के दर्शन करने का सौभाग्य नहीं मिला। मैं महाविद्यालय में पढ़ने लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त ही हुआ था और देशवासी भारत को स्वाधीन करने की मांग लगातार कर रहे थे। देश के सम्पूर्ण वातावरण में नेता जी सुभाषबोस की आजाद हिन्द फौज की यशोगाथा गूंज रही थी। उनहीं दिनों जयचन्द्र जी गुरुकुल पधारे और मुझे जीवन में पहली बार उनके दर्शन करने और ओजस्वी विचार सुनने का अवसर मिला। साधनानिष्ठ तपस्वी जैसी क्षीण काया, ऊँचा माथा मोटे चश्में के पीछे से अन्तस्तल तक भेदती हुई पैनी दृष्टि, नोकीली और उभरी हुई नाक, गौर वर्ण, धीर—गम्भीर स्वर और खादी का कुर्ता पाजामा तथा जैकेट सरलता, सादगी और विनम्रता की साक्षात् प्रतिमा थे जयचन्द्र जी। १९५३ में दिल्ली आ जाने पर जयचन्द्र जी से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। वे और मैं नई दिल्ली के जनपथ पर बने संसद सदस्यों के आवासों में रहते थे। हमारे निवास आमने—सामने ही थे, अत: पण्डित जी से प्राय: प्रतिदिन भेंट होती रहती थी। देश को स्वाधीन हुए कुछ वर्ष बीत चुके

थे। जयचन्द्र जी के देशभक्त क्रान्तिकारी मस्तिष्क ने जिस स्वाधीन भारत का सपना अपने हृदय में बचपन से संजोकर रखा था उसका लेशमात्र भी पूरा होता न देख वे उद्विग्न और निराश रहते थे और कहते थे कि क्या इन्हीं काले अंग्रेजों की हुकूमत में रहने के लिये भारत के सपूतों ने अपने जीवन की आहुति भारत माता के चरणों में अर्पित की थी ? जयचन्द्र जी का सम्पूर्ण जीवन और कृतित्व देश को पराधीनता की बेड़ियों से छुटकारा दिलाने, भारतीय संस्कृति की पुन: प्रतिष्ठा कराने और हिन्दी को राष्ट्र भाषा का स्थान दिलाने के लिये ही समर्पित था। उन्होंने जीवन में स्वार्थ से प्रेरित होकर कोई काम नहीं किया। अपने जीवन में उन्होंने इतिहास, संस्कृति, कृषि, भारतीय वाङ्मय, भौगोलिक इतिहास आदि अनेक विषयों पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखें। ये सब ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखे गये। मुझे एक विद्वान से यह भी सुनने को मिला 'यदि जयचन्द्र जी अपने ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखते तो उन्हें निश्चय ही अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति और मान्यता मिलती।' जयचन्द्र जी का निराश और भग्न हृदय मस्तिष्क अपने ही विचारों में खोया अन्तस्तल की वेदना भी व्यक्त न कर सकने के कारण प्राय: मौन और अन्तर्मुख ही रहता था। कभी प्रसंगवश अपने जीवन के संघर्षों और गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के भोलेपन की बातें सहसा उनके मुख से निकल पड़ती थीं। वे भारतीय इतिहास परिषद् के संस्थापक थे। डा० राजेन्द्र प्रसाद को उन्होंने इस परिषद् का अध्यक्ष मनोनीत किया था। स्वाधीन भारत का संविधान तैयार करने के लिये गठित संविधान सभा के अध्यक्ष पद पर डा० राजेन्द्र प्रसाद सर्वसम्मति से चुने गये थे। राजेन्द्र बाबू की हार्दिक इच्छा थी कि देश के संविधान का प्रामाणिक हिन्दी रूप भी साथ–साथ तैयार होता रहे। इस कार्य के लिये जिन विद्वानों को आमंत्रित किया गया था उनमें श्री जयचन्द्र जी प्रमुख थे। जयचन्द्र जी ने इस समिति के सलाहकार पद के लिये गुरुकुल के एक योग्य स्नातक का नाम सुझाया था। किन्तु वे स्नातक इतने भोले और सीधे थे कि कुटिल नौकरशाहों की हिन्दी विरोधी चालें नहीं समझ सके और साधारण क्लर्क के पद पर काम करने के लिये तैयार हो गये। वे जीवन भर इसी पद पर काम करते रहे। जयचन्द्र जी इन स्नातक बन्धु के निपट भोलेपन की तो कम किन्तु सरकारी अफसरों की कुटिल मनोवृत्ति की चर्चा मुझसे प्राय: किया करते थे।

सात वर्ष की अवस्था में जयचन्द्र जी को उनके पिताजी ने सन् १९०६ में गुरुकुल में प्रविष्ट करा दिया था। उन दिनों गुरुकुल का वातावरण देश में व्याप्त पुनर्जागरण की धारा से अत्यधिक प्रभावित था। देशवासियों में बन्धुत्व और अपनेपन की जो भावना थी उससे गुरुकुल भी अछूता नहीं था। बचपन में उनके मन पर राष्ट्रीयता की जो छाप पड़ी उसी का यह प्रभाव था कि उनका जीवन राष्ट्रीय गौरव और आत्मसम्मान की पुन: प्रतिष्ठा के लिये सदैव समर्पित रहा। इस ध्येय की प्राप्ति के लिये वे न केवल स्वयं क्रान्तिकारी बने अपितु अनेक क्रान्तिकारियों के दीक्षा गुरु भी। एक बार जयचन्द्र जी ने बताया कि सन् १९०८ में वे चौथी कक्षा में पढ़ते थे। एक दिन भोजनशाला में आकर हमारे आचार्य जी कहा कि हैदराबाद में अकाल पड़ गया है, इसीलिये तुम लोग अपने भोजन में कटौती करो। इससे जो रुपया बचेगा वह वहाँ भेजा जायेगा। हैदराबाद के दुर्भिक्ष पीड़ितों के लिये हमें अपना पेट काटकर भी कुछ भेजना चाहिये यह नया विचार तब पहली बार हमारे मन के क्षितिज पर आया। उन्होंने यह भी बताया कि तब देश में स्वदेशी आन्दोलन चल रहा था। मेरा और मेरे बहुत से साथियों का मुख्य ध्यान तबसे उसकी ओर रहने लगा। मास्टर नन्दलाल जी हमें पंजाब के उर्दू अखबारों से ताजा घटनाएं सुनाया करते थे। पंजाब में तब गरमागरमी जारी थी। सरदार अजीत सिंह भारत से खिसक रहे थे और लाला हरदयाल खिसकने से पहले गुरुकुल आकर दो दिन ठहरे थे। उन्होंने हम लोगों से देश की चर्चा की थी। हमें यह देख बड़ा उत्साह मिलता था कि गुरुकुल में हम देश की सेवा के लिये तैयार हो रहे हैं।

ब्रिटिश सरकार समझती थी कि क्रान्तिकारी बनाने के लिये ही गुरुकुल स्थापित किया गया है। अपने इस सन्देह की पुष्टि के लिये सरकार लगातार प्रयत्न भी करती रहती थी किन्तु इन सब के बावजूद यह भी एक तथ्य है कि उन दिनों गुरुकुल क्रान्तिकारियों की शरण स्थली बना हुआ था। देशभक्त क्रान्तिकारियों के लिये गुरुकुल के द्वार सदा खुले रहते थे। निर्जन वन में स्थापित गुरुकुल में अज्ञातवास करने के लिये क्रान्तिकारी आते रहते थे। राजेन्द्र लाहिड़ी, गेंदालाल दीक्षित, सरदार भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, यशपाल, कृष्ण सिंह बारसाट, बटुकेश्वर दत्त आदि अनेक क्रान्तिकारी लम्बी अवधि तक गुरुकुल में रहे और उनका बाल बांका नहीं होने पाया।

सरदार भगत सिंह, पण्डित जयचन्द्र जी के शिष्य थे। जयचन्द्र जी ने शचीन्द्रनाथ सान्याल के क्रान्तिकारी संगठन को भी सक्रिय सहयोग दिया था। श्री सान्याल ने अपनी पुस्तक 'बन्दीजीवन' में लिखा भी है, "इस लोक संग्रह के कार्य में अध्यापक जयचन्द्र जी ही प्रधान रूप से सहायक थे। पंजाब में जिस विप्लव आन्दोलन की नींव पड़ी उसका सम्पूर्ण श्रेय श्री जयचन्द्र जी को ही है। तिलक स्कूल ऑफ पोलेटिक्स के छात्रों से जो मैं परिचित हुआ वह जयचन्द्र जी की कृपा से। आपकी सहायता से मुझे ऐसे आदमी भी मिले, जिन्हें मैं अत्यन्त कष्ट साध्य एवं विपद संकुल स्थानों पर भेज पाया।"[१] सरदार भगत सिंह ने पुलिस की पकड़ से बचने के लिये दिल्ली में डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के साथ जो दिन बिताये उनकी अलग ही कहानी है।

जयचन्द्र जी ने गुरुकुल कांगड़ी के अतिरिक्त राष्ट्रीय महाविद्यालय सूरत, कौमी कालिज लाहौर, बिहार विद्यापीठ, काशीविद्यापीठ और भारतीय विद्या भवन मुम्बई आदि शिक्षा संस्थाओं में काम किया। उन्होंने अपने शिष्यों में क्रान्ति की चिंगारी जलाई और उन्हें राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत किया। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में गुरुकुलों में दीक्षित ब्रह्मचारी के 'समिधा समिद्धः' के जिस स्वरूप का वर्णन है उसी की छवि मुझे जयचन्द्र जी और उनके क्रान्तिकारी शिष्यों में दिखाई देती थी। प्राचीन भारत में विद्याध्ययन करने के लिए गुरुकुलों में आकर ब्रह्मचारी तीन समिधाएं लेकर आचार्य का अन्तेवासी बनने की प्रार्थना किया करता था। अग्नि में डाली जड़ समिधा अग्नि का स्पर्श पाते ही दीप्तिमती और तेजस्विनी बन जाती है। उसी प्रकार गुरु अपने शिष्य में ज्ञानाग्नि का आधान कर उसे तेजस्वी और ज्ञान सम्पन्न बना देता है। जयचन्द्र जी गुरु–शिष्य की इसी महिमामयी परम्परा का आजीवन परिपालन करते रहे।

उन्होंने देश के स्वाधीनता संग्राम में न केवल सक्रिय योग दिया अपितु उनके छोटे भाई देवचन्द्र नारंग का लाहौर में बलिदान भी हुआ। श्री नारंग हिन्दी के प्रचार–प्रसार के लिये समर्पित थे। विभाजन के बाद उनके भाई इन्द्रचन्द्र नारंग ने इलाहाबाद में हिन्दी भवन का कार्य नये सिरे से प्रारम्भ किया।

जयचन्द्र जी अपने युग के प्रसिद्ध इतिहासकार शोधकर्त्ता, समालोचक और लेखक थे। उनकी लेखनी और वाणी दोनों ही ओज से परिपूर्ण थी। देश की स्वाधीनता के पचास वर्ष पश्चात् अब भारत का इतिहास नये सिरे से सही परिप्रेक्ष्य में लिखने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। राष्ट्रीय अस्मिता की अभिवृद्धि करने के इस भगीरथ प्रयत्न में जयचन्द्र जी के ग्रन्थ निश्चय ही मार्गदर्शक सिद्ध होंगे।

१. "कुलपुत्र सुनें" – सम्पादक डा० विष्णुदत्त राकेश

❖ ❖ ❖

# गुरुकुलोद्यान के सुरभित पुष्प
# श्री पं0 जयचन्द्र विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड

—श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी "विद्यालय—विभाग" हरिद्वार

**"वन पर्वत में नदी नीर में, माता जो पाया संदेश।**
**तेरी पुण्य पताका लेकर, फैला दूँगा देश—विदेश।।"**

'कुलपताका' गीत की ये पंक्तियाँ जब भी, जहाँ भी गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक के कानों में गूंजती है, तो उसके सारे वदन में एक अज्ञात झुर्झुरी सी पैदा हो जाती है। यह गीत स्व० निरञ्जन देव जी 'प्रियहंस' आयुर्वेदालंकार की हृदय की  गहराइयों से प्रसूत है। निरञ्जन देव जी भी पं०जयचन्द्र जी के बालसखा और स्नातक बंधु थे। यदि हम १९१९ ई० के इस स्नातक ग्रुप के स्नातकों के नामों पर प्रकाश डाले तो इस ग्रुप में एक से बढ़कर एक स्नातक दिखाई पड़ते हैं। यथा—आचार्य अभयदेव जी (देवशर्मा) गुरुकुल के अनेक वर्ष आचार्य रहे और अरविन्दाश्रम, पाण्डिचेरी के योग के अनुयायी श्री ईश्वर दत्त (प्रचारक बन अफ्रीका गए), श्री धर्मचन्द्र जी, निरञ्जनदेव जी, पं० रामचन्द्र जी, पं० वागीश्वर जी, पं० सत्यभूषण जी अपने समय के माने हुए आयुर्वेद विशारद, कवि व संस्कृत के विद्वान हुए। गुरुकुल में अनेक वर्षो तक मुख्याधिष्ठाता और कुलपति तथा अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक व होम्योपैथिक ग्रन्थों के रचयिता पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार इस ग्रुप के वर्चस्वी स्नातक थे। ऐसे ही श्री कृष्णस्वरूप जी (अपने बलिष्ठ शरीर के कारण गुरुकुल में चीते को दबोच, पदक पाया तथा अनेक बार स्वतन्त्रता आन्दोलनों में जेल गए) राष्ट्रीय कार्यकर्ता रहे। इसी स्नातक नभोमण्डल में विशिष्ट नक्षत्र की भाँति पं० जयचन्द्र विद्यालंकार भी अपनी आभा से सबको देदीप्यमान करते रहे। गुरुकुल की शिक्षा दीक्षा ने तथा यहाँ की उत्कृष्ट एक विचारसरणी ने, यहाँ उद्दीप्त उत्कृष्ट राष्ट्र—भावना ने गुरुकुल के स्नातकों को वर्चस्वी, तेजस्वी, समाज सेवी, राष्ट्रसेवी और धर्मसेवी बनाया।

ऐसे यशस्वी स्नातक श्री जयचन्द्र विद्यालंकार विद्यामार्तण्ड का जन्म १८९८ ई० में हुआ। इनकी माता का नाम पार्वती था। पार्वती माता ने ही संरक्षिका के रूप में इन्हें गुरुकुल में प्रविष्ट कराया। विद्यालंकार तक की परीक्षा इन्होंने गुरुकुल कांगड़ी में ही ग्रहणकी। गुरुकुल में पर्याय विषयों में इतिहास व अर्थशास्त्र में विशेष योग्यता प्राप्त की। आगे चलकर वे इतिहास और समाज शास्त्र के विद्वानों में अग्रणी बने। सुवक्ता व अच्छे समालोचक भी रहे। गुरुकुल कांगड़ी के साथ साथ उन्होंने राष्ट्रीय महाविद्यालय सूरत, कौमी (नेशनल) कालेज, लाहौर तथा बिहार, विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ,एवं भारतीय विद्याभवन, मुम्बई में उपाध्याय पद पर भी कार्य किया। अपने जीवनकाल में उन्होंने हिन्दी भाषा का सदा वर्चस्व बढ़ाया। इसीलिए हिन्दी—साहित्य सम्मेलन प्रयाग की इतिहास

परिषद के दो बार सभापति रहे। उन्होंने इतिहास की उस महान् परम्परा का निर्वाह किया जो गुरुकुल में आचार्य रामदेव जी ने डाली थी। इस प्रकार जयचन्द्र जी इस सीढ़ी के ऊपरि डण्डे थे। उन्होंने भारतीय इतिहास परिषद् का निर्माण किया और उसके प्रधानमंत्री पद को भी सुशोभित किया। 'भारतीय इतिहास की रुपरेखा' पर उन्हें 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' से भी सम्मानित किया गया। वे स्वतन्त्रता संग्राम के राष्ट्रीय आन्दोलनों में भी अनेक बार जेल गए। वे अपने जीवन काल में 'अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी' के ससम्मान सदस्य भी रहे।

**इतिहास सम्बन्धी उनकी कुछ महत्वपूर्ण रचनायें इस प्रकार हैं—**

१. भारतीय इतिहास की रुपरेखा (भाग—२)

२. भारत भूमि और उसके निवासी

३. लघु इतिहास प्रवेश

४. इतिहास प्रवेश (प्रारम्भ काल से गाँधी तक)

५. भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न

६. जातीय—शिक्षा

७. उत्कीर्ण लेखाञ्जलि

८. बिहार एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन

९. भारतीय कृष्टि का (क ख)

वास्तव में पं० जयचन्द्र विद्यालंकार ने भारतीय इतिहास का दिग्दर्शन कराते हुए अनेक उपयोगी मानचित्रों एवं दुर्लभ चित्रों (सिक्कों, मूर्तियों, मन्दिरों, भवनों) को पुस्तक में संजोकर इतिहास के उस स्वर्णिम काल को हमारी आँखों के सामने चित्र—पट की भाँति प्रदर्शित किया। उन्होंने सचमुच 'गागर में सागर' भरने की कोशिश की है। 'लघु इतिहास प्रवेश' में अपने मनोभावों को महाभारत के एक श्लोक के द्वारा अभिव्यक्त किया है—

**'न हि तृष्यामि पूर्वेषां श्रृण्वानश्चरितं महत् ।। २। २३। ११।।**

अर्थात् पूर्वजों के महान चरित्र को सुनता मैं नहीं अघाता' और कौन ऐसा भारतीय होगा, जिसे अपने पूर्वजों पर गर्व न हो? उस समय उनकी इस पुस्तिका की इतिहास जगत् और हिन्दी संसार में भूरि—भूरि प्रशंसा हुई। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध एवं प्रमुख इतिहासकार प्रो० नीलकंठ शास्त्री ने तो 'इतिहास—प्रवेश' को पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी और पढ़कर कहा—"यह भारतीय इतिहास पर परिमाण को किसी भी भाषा में सर्वोत्तम ग्रन्थ है।" डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी जो भाषा—विज्ञान के पण्डित थे, उन्होंने अपनी टिप्पणी यों दी— "यह इतिहास न केवल भारतीयों के प्रत्युत समूचे विश्व के पढ़ने लायक हैं।" भारत के प्रमुख समाजशास्त्री स्व० डॉ० विनय कुमार सरकार ने यह कहकर इसका स्वागत किया कि उनकी शैली आश्चर्य जनक रुप से विशद है और पाठकों का रक्तमांस से बने स्त्री—पुरुषों से परिचय कराती है।" आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'भारत भूमि' पर अपनी निम्न टिप्पणी दी कि "यह तो अद्भुत और अनमोल पुस्तक है। हिन्दी साहित्य को आपने अपूर्व रत्न दान किया।" श्री राहुल जी ने इसे वैज्ञानिक ढंग पर लिखा ग्रन्थ बताया। श्री हीरालाल जी ने

हिन्दी के साहित्य क्षेत्र में अनुपम अलंकार बताया।
वस्तुतः ऐसी सटीक टिप्पणी उन जैसे विद्वान लेखक के विषय में ही दी जा सकती थी।

हम सब इस तथ्य से भली–भाँति परिचित हैं कि अपने देश के इतिहास की शिक्षा की हमारे यहाँ बड़ी दुर्दशा रही है। पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित लोग हमारे इतिहास को विकृत रुप से पेश करते रहे हैं, किन्तु गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने सदा ही इस विकृत प्रवृत्ति को– आचार्य रामदेव जी, पं० जयचन्द्र जी, डा० सत्यकेतु जी, पं० हरिदत्त जी, पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, आचार्य प्रियव्रत जी, पं० सत्यव्रत जी आदि के इतिहास, धर्म, दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों द्वारा भारतीय दृष्टि से संस्कृत किया है। कहीं–कहीं तो पं० जयचन्द्र जी ने अपने इन ग्रन्थों में इतिहास लेखन के साथ–साथ राजनीति, समाज, धर्म, जाति, व्यवस्थाओं आदि पर बड़ी सुन्दर एवं सटीक समालोचनात्मक टिप्पणियाँ भी कर डाली हैं। हमारा आग्रह है कि उनके इन ग्रन्थों का इतिहास विषय में पठन–पाठन अवश्य होना चाहिए।

अपने इतिहास को लिखते हुए, जहाँ उन्हें यह लगा कि भारतीयों के बारे में बिना सोचे–विचारे कुछ का कुछ लिख दिया गया है तो वहीं उनकी लेखनी के तेवर बदल जाते हैं। मध्यकालीन युग की एक झलक देखिए– "पहली बात सर्वथा गलत है। भारत के लोग ठण्डे देशों के लोगों से किसी तरह कमजोर नहीं हैं। अब भी भारत के सैनिक संसार की सबसे बलिष्ठ सैनिक जातियों से टक्कर लेते है।" इसी सन्दर्भ में वे आगे लिखते हैं– "हिन्दुओं की हार का एक यह भी कारण कहा जाता है कि उनमें अनेक देशद्रोही पैदा हो गए थे। देशद्रोह के बहुत से उदाहरण तो कल्पित हैं। जो सच हैं, उनके विषय में भी यह सोचना चाहिए कि हिन्दू राज्यों के नेता इतने जागरुक क्यों न रहते थे कि देशद्रोह के अंकुर को ही कुचल देते? हिन्दुओं की इस युग की अधोगति का असल कारण यह था कि उनकी प्रगति या आगे बढ़ने की प्रवृत्ति रुक गयी थी। उनकी महत्वाकांक्षा क्षीण हो गयी थी, वे अपने राजनीतिक हिताहित की उपेक्षा करने लगे थे।

इस प्रकार गुरुकुल में गहरे आर्य विचारों में पले, राष्ट्रीय भावनाओं से ओत–प्रोत, सत्य के ग्रहण और असत्य के निराकरण के संस्कार से संश्लिष्ट लेखनी ने इतिहास लेखन में भी एक नयी दिशा को जन्म दिया। गूढ़ अध्ययन, मनन एवं तार्किक कसौटी पर कसकर उन्होंने अपनी इतिहास की सामग्री को प्रस्तुत किया। उनके पास साधन थे। लिखने की तड़प तो विद्यमान थी ही किन्तु भारतीय पुरातत्व के छठे सम्मेलन के सभापति स्व० रायबहादुर हीरालाल के यें शब्द कि–"इस समय विशेषकर एक बड़ी आवश्यकता उत्कट रूप में अनुभव होती है और यह है भारतीय दृष्टि से लिखे हुए एक इतिहास की।" पं० जी को कहीं न कहीं गहरे से प्रेरित कर गए। ये शब्द १९३० में कहे गए थे किन्तु इससे पूर्व १९२६ ई० में ही पं० जी ने इतिहास की रूपरेखा लिखनी प्रारम्भ कर दी थी। पर स्व० रा.ब. हीरालाल के उपरोक्त शब्द उन्हें अन्दर तक झंकार गए। सन् १९३३ में भारतीय इतिहास की रूपरेखा की १०८० पृ० की दो जिल्दे प्रकाशित हो गयी। अपनी इसी भावना को उन्होंने इन शब्दों में अभिव्यक्त भी किया– "मोहनजोदडो से मोहनदास गांधी तक समूचे भारतीय इतिहास को आधुनिक खोज की रोशनी में भारतीय दृष्टि से कहने का काम शायद पहले–पहल मेरे

ही हिस्से में पड़ा है।" भारतीय दृष्टि से लिखे इतिहास के सन्दर्भ में जो सन्देश उन्होंने नयी पीढ़ी को दिया वह भी मननीय और पठनीय है– "यदि इसके द्वारा भारत के नवयुवक अपने राष्ट्र के आत्मपर्यवेक्षण, आत्मचिन्तन, आत्मस्मरण और आत्मानुध्यान का रास्ता देख सके तो मैं अपने श्रम को सफल मानूँगा।" अपने ग्रन्थ के 'उपसंहार' में लेखक ने जो लिखा वह आज के लिए भी चिन्तनीय है–"स्वतन्त्र होने पर 'अभिनव भारत' का जो रूप देखने की कल्पना जनता करती थी, वह उसे देखना नहीं मिला। पिछले चार बरस से उसके साधारण जीवन की तंगी भी चरम सीमा तक पहुँच गयी है (१९५१)। युद्ध के बाद मंहगी घटने के बजाय क्रमशः बढ़ती जा रही है और जीवन निरा संघर्ष बना हुआ है....अपनी दशा को सुधारना हमारे अपने हाथ में है। विदेशी राज से मुक्त हो जाने के कारण आज हमारे लिए उसे सुधारना पहले से सुगम है किन्तु उसके लिए पहला काम यह है कि हम अपनी स्थिति को ठीक–ठीक समझे। वैसा करने में इस ग्रन्थ से सहायता मिलेगी।" अस्तु

उपरोक्त विवरण के अनुसार हम यह कह सकते है कि वे एक अच्छे इतिहासविद् और हिन्दी भाषा के प्रबल समर्थक ही नहीं अपितु उच्चकोटि के लेखक व चिन्तक भी थे। उन्हें एक सुयोग्य वक्ता और संगठनकर्ता के रूप में भी जाना जाता है। लेख को दूसरे चरण में प्रवेश कराते हुए अब हम यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि हमारे चरित्र नायक इतिहास लेखक के रूप में ही नहीं अपितु जब ब्रिटिश सत्ता के विरोध में भारतीय युवा जोश हिलोरे मार रहा था तब उन्होंने कुछ नवयुवकों के संगठन को क्रान्ति का पाठ पढ़ाया।

जिस काल की चर्चा में हम तल्लीन है उस समय पंजाब के प्रायः सभी राजनैतिक कार्यकर्ता लाला हरदयाल, अम्बाप्रसाद सूफी, लाला लाजपतराय और अजीत सिंह आदि 'आर्य समाजी विचार स्वतन्त्रता' द्वारा प्रभावित थे। भाई परमानन्द आदि भी आर्य समाज की प्रगतिशील चेतना की उपज थे। जिनका प्रभाव बाद में क्रान्तिकारियों को पैदा करने में सक्रिय रहा। बाद में लाला जगतनारायण व महाशय कृष्ण आदि भी इस धारा में आकर मिले। पंजाब में डा० गोपीचन्द्र भार्गव आदि गांधी जी के विचार–प्रवाह से प्रभावित थे। किन्तु वे गुप्त रूप से क्रान्तिकारियों का सहयोग भी करते रहते थे। इस पीढ़ी का प्रभाव नयी पीढ़ी पर पड़ना स्वाभाविक था। पंजाब के लोग अत्यधिक भावुक और वीर होते है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि वे मैदान में अगर डट जाये तो मर–मिटने को तैयार रहते है। श्री जयचन्द्र जी ने नेशनल कालेज, लाहौर में अध्यापक रहते हुए ऐसी पंजाब की माटी में क्रान्ति के नव अंकुरों को प्रस्फुटित किया।

गुरुकुल कांगड़ी में सात वर्ष तक विद्याध्ययन करने वाले, अपने समय के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी व उपन्यासकार श्री यशपाल ने अपनी पुस्तक 'फाँसी के फन्दे तक' में नेशनल कालेज लाहौर के प्रोफेसरों के विषय में लिखा है कि– "कालेज के प्रोफेसरों की विचारधारा का प्रभाव विद्यार्थियों के विचारों पर काफी पड़ा। इनमें प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। जयचन्द्र जी प्रायः ही विद्यार्थियों की तर्क और जिज्ञासा की प्रवृत्ति को उकसाते रहते थे।"

महर्षि दयानन्द ने अपने सत्यार्थ प्रकाश के दूसरे समुल्लास में शतपथ का 'मातृमान पितृमान् आचार्यवान् पुरूषोवेद' यह महान् वाक्य उद्धृत किया है। इसमें माता–पिता और आचार्य के महत्व

पर अद्‌भुत प्रकाश डाला है। जयचन्द्र जी को अपने गुरूकुलीय शिक्षण काल में जहाँ एक से एक विद्वान् व आचारवान् आचार्यों एवं गुरुजनों का सान्निध्य प्राप्त हुआ वहीं उनकी माता भी विदुषी थी यही नहीं उनकी जीवन संगिनी श्रीमती सुमित्रादेवी भी उन्हें विदुषी मिली। (हम पहले लिख चुके है कि गुरुकुल में दाखिल भी उनकी माता जी ने ही उन्हें कराया था)। श्री यशपाल जी ने अपनी साहित्यिक गति विधियों की चर्चा करते हुए 'नेशनल कॉलेज' में हिन्दी को बढ़ावा देने के लिए हुई निबन्ध प्रतियोगिता का वर्णन करते हुए जयचन्द्र जी की माता का नामोल्लेख यों किया गया है– "१९२५ ई० की एक घटना याद है। पंजाब में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की नयी–नयी स्थापना हुई थी। इसके सर्वेसर्वा जयचन्द्र जी और उन दिनों लाहौर में मौजूद पुत्तुलाल जी विद्यार्थी थे। सम्मेलन में किसी एक विषय पर सर्वोत्तम निबन्ध लिखने के लिए पचास रूपये के पुरस्कार की घोषणा की थी। मैंने भी निबन्ध लिखा था। कई महीने परिणाम की प्रतीक्षा करने पर पता चला कि पुरस्कार किसी को नहीं दिया जा सकता। क्योंकि निर्णायकों ने तीन निबन्धों को एक ही कोटि का ठहराया था। यह भी मालूम हो गया कि इन तीनों में से एक निबन्ध मेरा था। दूसरे दो निबन्ध लेखकों के नाम जानने के लिए खोज की तो पता लगा की दूसरा निबन्ध भगतसिंह का और तीसरा जयचन्द्र जी की 'माँ' जी का था।" इस प्रकार उनकी माता भी हिन्दी के प्रचार–प्रसार में हाथ बंटाती थी।

इस तरह जयचन्द्र जी जहाँ नेशनल कॉलेज में छात्रों को राष्ट्र भक्ति और स्वतन्त्रता की प्रेरणा देते थे, वहीं उर्दू के गहरे माहौल में हिन्दी भाषा के उत्थान, प्रचार व प्रसार में भी लगे रहते थे। यशपाल जी ने उन्हें क्रान्तिकारी विचारों के प्रणेता के रूप में भी चित्रित करते हुए लिखा है कि "नौजवान भारत सभा का क्रान्तिकारी रूप जो उस समय बना था। उसके सब सूत्र जयचन्द्र जी सम्भाले थे।" श्री जयचन्द्र जी व्यापक भौगोलिक और ऐतिहासिक शिक्षा और संगठन बढ़ाने पर जोर देते थे। किन्तु भगतसिंह, सुखदेव और भगवती भाई में नया खून था, उनमें कुछ कर गुजरने की ललक रहती थी। यहीं से कुछ मतभेद उभरे, जिन्होंने आगे चलकर गुरु और चेलों की दिशाओं को नया मोड़ दिया। श्री जयचन्द्र जी दल के लिए आदेश पालन को आवश्यक समझते थे। यशपाल जी ने उनकी इस आदेशात्मक प्रवृत्ति पर यों विचार व्यक्त किए हैं–"जयचन्द्र जी ने दुस्साहस के किसी काम में स्वयं कभी हाथ नहीं डाला, परन्तु उनसे किसी भी काम का आदेश मिलने पर यदि कार्यकर्ता आदेश का कारण और महत्व समझना चाहता तो वह उन्हें गवारा न था। वे इसे क्रान्तिकारी अनुशासन की कमी समझते थे।" गुरुकुल में वर्षों तक अधिष्ठाता रहे स्व० पं० चन्द्रकेतु जी (इनके बड़े भाई पं० सत्यपाल जी सिद्धान्तालंकार अफ्रीका वाले तथा छोटे भाई देशरत्न किशोरी लाल जी भगतसिंह आदि के साथी) के सुनाये संस्मरण के अनुसार पं० जयचन्द्र जी सीधे–सादे लिबास में रहते थे। सब यही जानते थे कि इन्हें पुस्तकें पढ़ने का बहुत शौक है। तो जयचन्द्र जी कुछ पुस्तके बगल में दबाये कुछ थैले में डाले और उनमें पिस्तौल छिपाये अनजान से गन्तव्य की ओर पहुँच जाते थे। खैर ।।

अब हम लेख के हृदय को संकुचित करते हुए प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री मन्मथनाथ गुप्त की 'भारत के क्रान्तिकारी' पुस्तक से ये वाक्य अवश्य उद्‌धृत करना चाहेंगे कि सरदार भगतसिंह ने

डी.ए.वी. स्कूल में मैट्रीकुलेशन पास किया, उसके बाद वे नेशनल कॉलेज में पढ़ने लगे। जहाँ उनका परिचय सुखदेव, भगवतीचरण, यशपाल आदि से हुआ जो बाद को चलकर प्रमुख क्रान्तिकारी हुए। इस कॉलेज में जयचन्द्र विद्यालंकार के नाम के एक अध्यापक थे जो बहुत पहले ही शचीन्द्र नाथ सन्याल के प्रभाव में आ चुके थे। उन्होंने शचीन्द्रनाथ के 'बन्दी जीवन' के दूसरे भाग का अनुवाद भी किया था, जो बहुत कम लोगों को मालूम है। जयचन्द्र हिन्दू विचारों के थे पर क्रान्ति का प्रचार करते थे। कुछ भी हो इन्ही के जरिये से भगतसिंह और उनकी मित्रमण्डली का प्रवेश क्रान्तिकारी दल में हो गया। गुरु गुड़ ही रह गए और चेले चीनी हो गए। जयचन्द्र का एक प्रभाव फिर भी इन लोगों पर यह रह गया कि सबके सब 'विद्या–प्रेमी' हुए।" गुप्त जी द्वारा अभिव्यक्त इस उपरोक्त टिप्पणी से अच्छी टिप्पणी ओर क्या हो सकती है। कर्मशील लोग अपना कार्य कर जाते है और दूसरे उनके मार्ग पर चलकर अपना पथ प्रशस्त किया करते हैं। उनकी इन्हीं सेवाओं आदि के लिए तत्कालीन पंजाब सरकार ने पुरस्कारों से पुरस्कृत किया।

साधारण कुर्ते–धोती का वेश, छरहरा वदन, लम्बा चेहरा, चौड़ा मस्तक, आँखों पर उपनेत्र। उपनेत्र के पीछे से आँखों में छलकती एक दूर दृष्टि की चमक। यही है चित्राकृति उनकी।

वास्तव में गुरुकुल पत्रिका के वर्तमान सम्पादक मण्डल ने गुरुकुल गौरव के अनुरूप 'शतायुर्वै: पुरुष:' को केन्द्रित कर गुरुकुल के यशस्वी स्नातक श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार के देहावसान (१९७७) के अद्यतन (१९९९) शताब्दी वर्ष पर यह विशेषांक श्रद्धाञ्जलि रूप में भेंट कर स्तुत्य कार्य किया है। स्मरण रहे— गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय भी 'शतायु' होने जा रहा है तथा गुरुकुल पत्रिका के 'पचास वर्ष' पूरे हो चुके है। (१९४८–१९९९) अन्त में जयचन्द्र जी के ही गुरुकुलीय सहपाठी व स्नातक बंधु पं० वागीश्वर जी विद्यालंकार की 'कुलवन्दना' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत है—

**"जय–जय जननि। कुलदेवी ! तुझको बार–बार प्रणाम है।**
**यह मञ्जु अञ्जलि प्रेममय, अर्पित तुझे अभिराम है।।**
**हम हैं सदा तेरे हमारी तू, हृदय वर वासिनी।**
**सम्बन्ध यह तेरा हमारा नित्य है निष्काम है।।"**

❖ ❖ ❖

# वेद और आधुनिक गणित

डॉ० विजयेन्द्र कुमार शर्मा, रीडर गणित
एवं सांख्यिकी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार।

प्रस्तुत पत्र में कुछ उदाहरणों द्वारा दर्शाया गया है कि जो हम आज आधुनिक गणित तथा विज्ञान में अध्ययन करते है वह किस प्रकार सृष्टि की रचना के प्रारम्भ में उपलब्ध वेदों में प्राप्त था।

वैदिक ज्ञान सृष्टि रचना का सर्वप्रथम प्राप्त ज्ञान है। यद्यपि सृष्टि की आयु ग्रन्थों में अलग–अलग आकलित की गयी है तथापि यह वर्षों में काफी बड़ी संख्या है। अथर्ववेद के अनुसार–

**"शतं तेऽयुतं हायनान द्वे युगे त्रीणि चत्वारि"**

इसे विपरित क्रम में लिखने पर

**"चत्वारि त्रीणि द्वे अयुतं शतं तेहायनान्"**

अर्थात चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष सृष्टि की आयु आकलित की गयी है। कुछ ग्रन्थों में इस अवधि को एक अरब पिछहत्तर लाख वर्ष भी बताया गया है। इस वाड़मय में आधुनिक गणित एवं विज्ञान मूल रूप में विद्यमान स्पष्ट दिखायी पड़ता है। इसी आशय के कुछ उदाहरण प्रस्तुत पत्र में दिये गये हैं।

गणितज्ञ देकार्त (Descartes) ने सन् १६३७ में यह प्रकाशित किया कि किस प्रकार तीन मापों के आधार पर आकाश में किसी वस्तु की स्थिति निश्चित की जा सकती है। इन तीन मापों को तीन नियामक ($x$–नियामक, $y$–नियामक तथा $z$–नियामक) कहते हैं। इस प्रणाली को देकार्त नियामक प्रणाली कहते हैं।

इसके अतिरिक्त आकाश Space में किसी वस्तु का स्थान निश्चित करने की जो अन्य दो प्रणालियां हैं उनके नाम बेलनीय नियामक प्रणाली (Cylindrical system of coordinates) तथा ध्रुवीय प्रणाली (Polar system of coordinates) हैं। इन दोनों में भी तीन मापों के आधार पर ही आकाश में किसी वस्तु की स्थिति निश्चित की जाती है।

वास्तव में तीन मापों से किसी वंस्तु की स्थिति निश्चित करने को ज्ञान का मूल वेद में हैं। इसके लिए निम्न ऋचा का अवलोकन करें :

**विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं**
**यः पार्थिवा निविममे रजांसि।**
**यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं**
**विच क्रमाणस्त्रेधोरूगायः।।**

भावार्थ : इसमें विष्णु के पराक्रम का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उन्होंने तीन पैरों (तीन मापों) से लोकों को नाप लिया हैं।

वेद में ज्यामितिय संरचनाओं का भी वर्णन हैं। त्रिभुज और वृत्त निर्माण के संबंध में ऋचाएं

प्रस्तुत हैं :

**त्रिबन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा,**

**रथेना यातमश्विना**

भावार्थ : प्रस्तुत ऋचा में तीन लकड़ियों से बने रथ् की चर्चा की गयी है।

निम्न ऋचा :

**न्यहन्यस्य मूर्धनि चक्रं रथस्यये मधुः**

**परि द्यामन्य दीयते।**

मे बताया गया है दो अश्विनी कुमारों ने अपने रथ के एक पहिये को पर्वत शिवर पर स्थिर किया तथा दूसरे को आकाश में उसके चारों और घुमाया अनन्त (Infinity) संख्या का विचार तथा कंप्यूटर जैसी किसी मशीन की वैदिक काल में उपस्थिति का आभास निम्न ऋचा से होता है :

**सहस्त्र शीर्षा पुरूष : सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।**

**स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।**

इसमें बताया गया है कि सहस्त्र मस्तक और सहस्त्र चक्षुओं वाले विराट पुरुष के चरण भी अनन्त हैं।

संख्याओं का प्रयोग बहुत सी ऋचाओं में हुआ है। ये संख्यायें विशेष लय में होने के कारण किसी सिद्धांत को प्रतिपादित करती सी प्रतीत होती हैं। निम्न ऋचाओं का अवलोकन करें :

**आविंशत्या त्रिशंता याह्यर्वाङ्**

**चत्वारिंशता हरिभिर्युजानः।**

**आ पञ्चाशता सुरथेभिरिन्द्रा**

**षष्टया सप्तया सोमपेयम।।**

**तथा**

**आशीत्या नवत्या याह्यर्वाङ**

**शतेन हरीभिरूह्यमानः।**

**अयं हिते शुनहोत्रेषु सोम**

**इन्द्र त्वाया परिषिक्तो मदाय।।**

उपरोक्त ऋचा में दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर, अस्सी, नब्बे और सौ इन संख्याओं का प्रयोग किया गया है

❖ ❖ ❖

# आने वाली सदी....

**श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार**
**गुरुकुल कांगड़ी "विद्यालय-विभाग", हरिद्वार**

कैसी होगी?
तुम्हारी,
इक्कीसवीं सदी–
आने वाली सदी–
फुटपाथों पर
सोने वाली।
झुग्गी–झोपड़ो में,
बसने वाली,
महलों, दुमहलों में
रहने वाली,
आकाश में उड़ने वाली,
अन्तरिक्ष में बसने वाली,
अणु, परमाणु, विषाणु
या कीटाणु वाली,
कैसी होगी ?
तुम्हारी
आनेवाली सदी।
इक्कीसवीं सदी।
नाचने, गाने वाली,
रंगरेलियों वाली,
दिन चढ़े तक
सोने वाली,
या–
सुबह–सबेरे,
खेतों पर
'हल' ले जाने वाली,
'मन्दिरों' की
घंटियों वाली,
'मस्जिदों' की
अजान वाली।
या
'सरबसांझी वाली,
दकयानुसी
विचार वाली!
भावनात्मक,
एकतावाली।
पावन ऋचाओं वाली,
'गंगा' के घाटों वाली,
'त्रिवेणी' के पाटों वाली
कहने या करने वाली।
कैसी होगी?
तुम्हारी आनेवाली सदी।
इक्कीसवी सदी।
शोरगुल, कोलाहल
मारकाट, हिंसावाली
भूखमरी लूटपाट
दंगा फसाद वाली।
आतंक या उग्रवाद वाली,
भाषा, जाति या
सम्प्रदाय वाली!
हवाला, घुटाला या
'चारा' वाली।
कैसी होगी?
हमें समझाओं।
जरा बताओ।
आशा दिलाओ।
मुंह न बनाओ।
जागो और जगाओ!
कहो,
कैसी होगी,
ऐसी होगी,
वैसी होगी!
मानव को
मानव बनाएगी,
या जोगी?
भोगी बनाएंगी
या रोगी।
देव बनाएगी,
या दानव
प्यार फैलाएगी
या ताण्डव!
जग में लाएगी,
खुशहाली
या बर्बादी!
कैसी होगी?
अब तुम्हीं बताओ?
कुछ तो समझाओं?
क्योंकि–
हर प्रश्न का उत्तर,
तुम्हें ही देना है।
तुम्हें ही खोजना है।
तुम्हें ही सोचना है।
तुम्हें ही करना है।
क्योंकि तुम–
इक्कीस वर्ष के,
अनव्याहे सपने हो,
मेरे अपने हो।
आदमी नहीं,
'कम्प्यूटर' हो।
नीचे नहीं,

ऊपर हो,
ग्रह नहीं, उपग्रह हो,
पीछे नहीं, आगे हो,
बच्चे नहीं, बाप हो,
तुम नहीं, आप हो,
ठण्ड नहीं, ताप हो,
पानी नहीं, भाप हो,
क्योंकि तुम–
स्वतन्त्र देश में
पैदा हुए हो,
पले और
बड़े हुए हो,
फिर भी
पता नहीं,
कहाँ
खड़े हो।
गम्भीर होकर,
सुनों और गुनो–
क्योंकि–
तुम्हारे लिए,
'स्वतन्त्र' या 'गणतन्त्र'
सब समान है,
तुम्हारा लक्ष्य,
धरती नहीं
आसमान है।
पिता या डैडी,
माता या मम्मी,
सब समान है।
भाषा व भूषा नहीं,
उधारी जुबान है।
'भारत' के गर्भ में,
पल रहा, यह कैसा?
अजब, अनोखा,
'हिन्दुस्तान' है?
सोचता हूँ,
आने वाला–कल,
परसों, तरसों, सप्ताह,
महीने, वर्ष या सदी
कैसी होगी?
क्योंकि
तुमने
गुलामी का दर्द
आभावों की गर्द
नहीं देखी,
नहीं लेखी,
अपने,
'जीवन–दाता' को,
अपने,
पिता या प्रपिता को
लंगोटी में,
चींथड़ों में,
नंगे सिर,
नंगे पैर,
बिवाई फटे,
बिना जूते,
चप्पल, पहने,
धूप–सर्दी,
बरसात सहते।
चने और
गुड़ खाते।
मोटे अनाज,
व सत्तू फाँकते।
प्याज या छाछ पीते,
जमींदार के सामने,
करदार के सामने,
गिड़गिड़ाते,
रोते–कलपते,
हाथ फैलाते,
मार खाते।
महामारियों से
दम तोड़ते
चिलचिलाती
धूम में,
कड़कड़ाती
सर्दी में।
गेहूँ उगाते, गहाते,
धान रोपते, काटते।
'रहट' चलाते
'ढेंकली' उडलते,
'चड़स' खींचते,
'बोंके' डालते
मेहनत,
मजदूरी करते,
अपने दर्दों को
अपने दु:खों को
समेटे
अपनी अस्मत को,
अपनी इज्जत को,
बचाते,
सन् सैंतालीस में,
लुटे–पीटे
'शरणार्थी बने।
चने या मूंगफली
बेचते।
फेरी लगाते,
बोझ ढोते,
कभी गिरते,
कभी उठते,
कभी भूखे,

कभी प्यासे,
कभी भर पेट,
कभी खाली पेट
नहीं देखा?
नहीं लेखा?
तुमने तो देखा,
टी०वी०, विडियो,
फ्रिज, कूलर,
एयर कण्डीशनर,
मारूति, इम्पाला,
सुजूकि, विकराला,
तुम,
ध्वनि, हवा,
पानी, मिट्टी,
सबके
प्रदूषण में,
जन्मे हो,
पले हो,
गिट–पिट में,
जागे हो।
सिट–पिट में,
आगे हो।
गाय का नहीं,
बोतल का
पीते हो।
रोटी नहीं,
'टोस्ट' खाते हो।
देशी नहीं,
डालडा खाते हो।

सूती नहीं,
टेरा कोटी,
पहनते हो।
'अण्डो' में रमे हो।
'मांस' में सने हो।
डाँस में आगे हो,
रोमांस में सजे हो।
रम में रमे हो,
ह्विस्की में जीते हो।
अतः
इस आने वाली सदी में,
अपने अतीत के,
दर्दों को,
अभावों को,
व
दुःखड़ों को,
अपनी,
विरासत को,
अपनी,
संस्कृति
व
सभ्यता को।
उसकी
गहरी
जड़ों को,
अपनी नींव को,
ईंटो को,
अपने घर की,
भीतों को,

उनमें,
बसी, सिमटी,
यादों को,
फरियादों को,
भावनाओं व
कल्पनाओं को।
जिन्दगी के यथार्थ
व आदर्श को।
भुलाकर,
मिटाकर,
तोड़कर,
अपनी सदी का,
इक्कीसवीं सदी का,
कौन सा,
सपना
साकार करोगे,
कौन सा,
भवन!
नया भवन।
खड़ा करोगे?
तो, कैसी होगी,
वह सदी?
इक्कीसवीं सदी?
कैसा होगा,
वह भवन?
"नरक"
या
"नन्दन वन"

❖ ❖ ❖

# वेदमन्त्रणां पाठस्यप्रकारता तस्य सामाजिकं भाषिकं महत्वञ्च।

डॉ० रामाशीष पाण्डेय
आचार्योऽध्यक्षश्च–संस्कृत विभागस्य
मारवाड़ी महाविद्यालय:, राँची
(राँची विश्वविद्यालय, राँची)

**वेदमन्त्र शब्दार्थ :**

विद्यन्ते धर्मादय: साधनोपाया यैस्ते वेदा इति विद् ज्ञाने, विद्लृलाभे, विद्विचारणे, विद् सत्तायामिति धातोर्घञ् प्रत्ययेन[१] निष्पन्नो वेद शब्दो ज्ञानस्य लाभस्य विचारस्य सत्तायाश्चावबोधक:। वेद विहितानां ज्ञानस्य, वेदमार्गानुमोदितयज्ञादिफललाभस्य, वेदोक्तधर्माचारादि विचारस्य वेदप्रतिपादित ब्रह्मसत्तायाश्च स्वीकरणार्थमेव वेद: प्रसृत:। प्रज्ञानं ब्रह्म (ऋ०), अहं ब्रह्मास्मि (यजु०), तत्त्वमसि–(साम०), अपमात्मा ब्रह्म (अथर्व०) प्रभृतिवाक्यैर्ब्रह्मतत्वाववोधो वेदादेव भवति। वेदा यज्ञार्थसंभवा:, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत् प्रभृति वाक्यै: स्वर्गादिलाभो नैमित्तिककाम्यादियज्ञेभ्यो निमित्तस्य काम्यस्य च फलावाप्तिर्भवति। वेदोऽखिलोधर्ममूलम्, अथातो धर्मजिज्ञासा, आचार: परमो धर्म: प्रभृतिवाक्यै–र्धर्माचारादिविचारो वेदादेवोपलभ्यते। वेदस्य ब्रह्मणस्तस्य कार्यस्य सत्तायाश्च ज्ञानं वेदाध्ययनेन भ्वतीति।

मन् धातो: ष्ट्रन् प्रत्ययेन निष्पन्ना मन्त्रा ऋषिभिर्दृष्टा: संहितासु संकलिता विद्यन्ते। ऋषिभि: साक्षात्कृतास्ते मन्त्रा: स्तुतौ प्रयुक्तत्वादृक् संहितायां संकलिता ऋचो व्यपदिश्यन्ते। अनेनैन यजनकर्मणि प्रयुक्तत्वाद् यजु: संहितायां यजुर्मन्त्रा:, गेयप्रधानत्वाद् यज्ञाद्यवसरे गायनकर्मणि प्रयुक्तत्वाच्च सामसंहितायां संकलनाच्च साममन्त्रा:। अथर्वणकर्मणि प्रयुक्तत्वादथर्वसंहितायां संकलितास्तेऽथर्वमन्त्रा: प्रसिद्धा:।

वेदमन्त्राणां पाठस्य प्रयोजनम्–

वेदार्थाववोधाय वेदमन्त्राणां पाठ: प्रथम: कल्पित:। पुनश्च वेद विहितानां सामाजिकराजनीतिक धार्मिकार्थिकसाहित्यिकादि विविधतत्त्वानां ज्ञानमपि तेषां पाठस्य प्रयोजनम्। वेदा यज्ञार्थ संभवेति नित्यनैमित्तिक काम्यादियज्ञानां सम्पादनार्थमपि मन्त्राणां पाठो भवति। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवा:'[१] इति श्रुतिवचनेन यज्ञेषु

१– हला० ६३७ पृष्ठे

प्रयुक्ता मन्त्रा यज्ञफलावाप्तये भवेयुरिति मन्त्राणां पाठो विहितः। प्रातिशाख्ये वेदाध्ययनस्य यत्फलं प्रतिपादितं तत् फलं मन्त्रपाठस्यापि विद्यते। तत्र वेदाध्ययनस्य फलं पौरुष्यं पुरुष आत्मा तत्प्राप्ति साधनं मुक्तिप्रदमिति, स्वर्ग्यं स्वर्गसाधकम्, यशस्यं यशः कीर्तिस्तस्याः साधकम्, आयुष्यम् आयुषो वर्धनं तथा विभक्ति परिज्ञानञ्च विहितम्। यद् वेदस्य प्रकृति प्रत्ययादिविभागतो ज्ञानं तस्मादपि आयुष्यादिफलं भवति।[२] वेदमन्त्र पाठस्यान्यप्रयोजनेषु तस्य पाठमात्रादपि धर्मो भवति। तथा च शिष्येभ्यो: सम्प्रदानाद् वेदश्रवणाच्चापि धर्मो भवति।[३] मन्त्रपाठे तस्य मिथ्याप्रयुक्तत्वाभावोभवति।[४] संहिता नयते सौर्यमिति याज्ञवल्क्यशिक्षायामपि तस्य फलं प्रतिपादितमस्ति।[५]

**मन्त्रपाठस्य प्रकारता:—**

प्रयोगाश्रिता मन्त्रा ऋग्यजुः सामाथर्वसंहितासु संकलिताश्चतुर्धा सन्तीति पूर्वमेवोट्टङ्कितम्। तेषां मन्त्राणां विभागः पाठदृशा द्विधा भवति—प्रकृतिपाठो विकृतिपाठश्च। तत्र प्रकृतिपाठः संहितापाठः। यत्र कृत्स्नाङ्गानामुपदेशः क्रियते सा प्रकृतिः। मूलमन्त्राणां स्वरवर्णाद्युच्चारणनियमानुकूलः पाठः संहिता पाठः। ऋग्यजुः सामाथर्वसंहितासु संकलिता मूलमन्त्रास्तु संहिता पाठो विद्यते। संहिता पाठ एव वैदिकशब्दार्थकल्पनं विद्यते।

मन्त्राणां प्रकृति पाठस्य संहिता पाठस्य वा रक्षार्थं पदानां नियमानुकूलां विकृतिं विधाय पठनमेव विकृतिपाठः।[६]

---

१— ऋ० १०/९०/१६

२— वा० प्राति० ८/३१—३५ (सम्पा० डॉ० वी०के० वर्मा)

३— वेदस्याध्ययनाद्धर्मः सम्प्रदानात्तथा श्रुतेः
वर्णशोऽक्षरशोज्ञानाद्विभक्तपदशोऽपि च।। वा०प्राति०८/३६

४— मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाहः पा०शि० ४२

५— या० शि०—३२

६— प्रकृतेः पृथगाङ्गानि विशेषाङ्गानि वा पुनः
प्रोच्यन्ते वेदरक्षार्थं विकृतिः सा निगद्यते।
संहितायाः पदानाञ्च पठनं हि पृथक् पृथक्
सनियमं विकृतं कृत्वा विकृतिः प्रोच्यते बुधैः।।

विकृतिपाठस्याष्टौ भेदाः प्रचलिताः सन्ति। तत्र जटा माला शिखा रेखो रथो दण्डो ध्वजो घनश्चेति। विकृति पाठस्य कृते पदपाठस्य क्रमपाठस्यापि आवश्यकता भवति। संहितापाठस्या थार्वबोधाय पदपाठस्य प्रवृत्तिर्जायते। पदपाठे संहिताा मन्त्रस्य प्रत्येकेषां पदानां पृथक्करणं भवति येन तस्यार्थावबोधे सारल्यं जायते।[१] अनेन पदपाठेन क्रमपाठस्य निर्माणेऽपि साहाय्यं प्राप्यते। अतो मन्त्राणां पाठप्रकारतायां संहिता पाठः पदपाठः क्रमपाठो विकृतिपाठश्चेति।

**संहितापाठे नियमस्तस्य सामाजिकं भाषिकं महत्वञ्च–**

ऋषिभिर्दृष्टानां मन्त्राणां मूलरूपेण पाठः संहिता पाठः। तत्र मन्त्रस्थपदानां यादृशः क्रमो मूलपाठे विहितस्तेषां पदानां विहितप्रक्रियां पठनमेव संहितापाठः संहिता पाठस्तु प्रकृति पाठः[२]। याज्ञवल्क्यशिक्षायां संहिता नयते सौर्यमिति३ तस्याः फलं प्रतिपादितम्। पूर्वेणोत्तरः संहितः[४] इति प्रातिशाख्य[५] वचनेन पूर्वेणपदान्तेनोत्तरस्य पदादेर्मिजनमेव संहितेति। संहितापाठे पदानां संहितिरेव[५]। पदप्रकृति संहितेति ऋक्प्रातिशाख्ये। तेन पाठानां मूलप्रकृतिरेव संहिता।

पदेषु परिर्वतनं विनाऽत्र मन्त्राणां मूलपाठोऽधिगृह्यते। वेदस्य शाखानुसारं संहितापाठस्योच्चारणे भेदोऽपि प्राप्यते। एतादृशोभेदः स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकार जनितो भौगोलिकपरिवेशाश्रितः सामाजिक भाषिकप्रभावैः प्रभावितो भवति। संहितायां स्वरवर्णाद्युच्चारण भेदा भाषिकमहत्त्वसम्पन्नाः केचन् द्रष्टव्याः–

**क– यकारस्यजकारोच्चारणम्–**

शुक्ल यजुर्वेदे पदादौ पठितस्य यकारस्य जकारोच्चारणं भवति। यज्ञः इत्यस्मिन् पदे पदादियकारस्यजकारसदृशोच्चारणम् उपसर्गात्परस्य यकारस्य जकारोच्चारणं प्रायो न भवति। हकारस्य हल्संयुक्तस्य ऋकारस्य योगेऽपि यकारस्य जकारोच्चारणं न भवति। अथ, मा, स, न इत्येषां शब्दानां

---

१– पदानि संहितायाश्च पठ्यन्तेऽथ पृथक् पृथक्
विग्रहोऽपि भवेद्यत्र पदपाठः स उच्यते।।

२– यत्र कृत्स्नाङ्गानामुपदेशः क्रियते सा प्रकृतिः।

३– या० शि०–३२

४– वा० प्राति० १/१५५

५– वर्णानामेक प्राणयोगः संहिता– वा प्राति० १/१५८
वर्णानामेकोच्छ्वासोच्चारणयोगः संहिता तत्रैव–उब्वटभाष्ये

योगेऽपि यकारस्य जकारोच्चारणं न जायते। तालव्यस्थानीयस्य यकारस्य तालव्यस्थानीये गकारे परिवर्तितमुच्चारणं भाषिकं महत्वं दधाति।[१]

**ख— वकारस्य द्वित्ववकारोच्चारणम्—**

शुक्लयजुर्वेदे पदादौ स्थितस्य वकारस्य द्वित्ववकारोच्चारणं भवति यथा—विश्वा इत्यस्य व्विश्वा। उपसर्गात्परस्य वकारस्य द्वित्ववकारोच्चारणं प्रायो न भवति। वा, वै, वां व: इत्येषां शब्दामां वकाराणां द्वित्ववकारोच्चारणं न भवति। अथ, मा, स, न इत्येषां शब्दानां परिस्थितस्य वकारस्य प्रायेण द्वित्व वकारोच्चारणं न भवति। पवर्गीयस्य बकारस्य द्वित्वोच्चारणं न भवति। अन्तस्थ वकारस्यैव द्वित्ववकारोच्चारणं विहितम्[२]।

**ग— षकारस्य खकारोच्चारणम्—**

शुक्लयजुर्वेदे षकारस्य खकारोच्चारणं भवति यथा शीर्षा इति पदस्योच्चारणं शीरेखेति। टवर्गयोगे षकारस्य खकारोच्चारणं न भवति। यथा—शीर्ष्णों प्रभृतिपदेषुं।

**घ— रेफस्य रे उच्चारणम्—**

शुक्लयजुर्वेदे श ष स ह वर्णानां योगे वर्णान्तरणेसंयुक्तस्य रेफस्य रे उच्चारणं भवति यथा—शीर्षा इत्यस्य शीरेखेति। एतादृशं परिर्वतनं स्वरभक्तिनाम्नाऽभिहितम्[३]।

**ङ— मकारनकारस्य गुमादेश:—**

श ष स ह रेफाच्च पूर्वस्य ह्रस्वात् परस्य मकारनकारस्य ह्रस्वगुमादेशो भवति। संयोगात्पूर्वस्य ह्रस्वस्य मकारनकारस्यापि ह्रस्व गुमादेशो भवति। श ष स ह रेफाच्च पूर्वस्य दीर्घात् परस्य मकारनकारस्य दीर्घगुमादेशो भवति। ह्रस्व गुमादेशो यथा— स भूमिं सर्वतो स्पृत्वा— स भूमि सर्वतोस्पृत्वा[४]। दीर्घ गुमादेशो यथा— देवानां सख्य मुप०— देवानाꣳ सख्यमुप०५

अनेन प्रकारेण दृश्यते यत् संहितायामुच्चारणभेदा भौगोलिक प्रभावस्य·प्रतिरूपा एव। प्रातिशाख्यस्य स्थानाश्रितत्त्वमपि विश्रुतमेव। स्वरव्यञ्जन परिवर्तनादि पदवाक्यसम्बन्धत्त्वादिज्ञानं भाषाविज्ञानाश्रितमस्ति।

---

१— इचुयशानां तालु— अष्टा० १/१ सि० कौ० वृति द्र०

२— शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन शाखीयरूद्रपद्धति:— विद्याधर गौड़, पृ०—५

३— र ला वृ लृ वर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदयेसर्वत्र— वा० प्राति० ४/१६

४— शु० यजु०— ३९/९

५— तत्रैव — २५/१५

**पदपाठ नियमस्तस्य भाषिकं महत्त्वञ्च—**

संहिताया अर्थावबोधाय पदपाठस्य प्रवृत्तिः प्रथिता। संहितायाः पदानां निगृह्य पृथक् पृथक् पदानां पाठेन चार्थावज्ञाने सारल्यं भवति[१]। पदाध्ययने संहितार्थपरिज्ञानं प्रयोजनम्। क्रमपाठस्य निर्माणेऽपि तस्य महान् योगो विद्यते। भाषा वैज्ञानिक दृष्ट्या पदपाठः पदानामर्थावबोधाय प्रथमः प्रयासः। शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्ये प्राप्यते यत् पदपाठे पदे पदे विच्छेदो भवति। तत्र पूर्वेण पदान्तेनोत्तरः पदादिः संहिता न क्रियते[२]। पदपाठे इतिकरणमपि प्राप्यते। प्रगृह्यसंज्ञकं यत्पदं तत् चर्चायां परभूतायामितिना आगमिकेन व्यवधीयते[३]। यथा— द्वे इति द्वे, बाहू इति बाहू। संहितायामनिर्ज्ञातरेफं रिफित संज्ञं पदञ्च इति शब्देन व्यवधीयते चर्चायां परतः[४]। यथा— पुनरिति पुनः प्राणः। पदद्वयस्य द्विरूक्तौ खलु मध्ये इति शब्दस्य प्रयोगो भवति[५]। पदपाठेऽवग्रहोऽपि भवति। अवग्रहस्यार्थो भवति पदानां पृथक्करणं पदपाठे सामासिक पदानामन्येषां वा पदानां पृथक्करण मेवावग्रहः कथ्यते। पृथग्भूतस्य पूर्वपदस्योत्तरपदस्य च मध्ये एकमात्रिकः कालव्यवधानो जायते[६]।

पदपाठे संक्रमस्य योगो भवति। संक्रमस्यार्थोऽपि भवति परित्यागः। पदत्रयाणां पुनरूक्तौ पदपाठे पुनरूक्तानि लुप्यन्ते[६]। अनेन प्रकारेण भाषिकं परिर्वतनं पदपाठे दृश्यत एव। पदपाठस्योदाहरणं यथा:—

यत्। जाग्रतः । दूरम् । उदैतीत्युत् । ऐति । दैवम् । तत्। ॐ इत्यूँ। सुप्तस्य। तथा । एव। एति। दूरङ्गममिति दूरम्। गमम्। ज्योतिषाम्। ज्योतिः। एकम्। तत् । मे । मनः। शिवसङ्कल्पमिति शिव। सङ्कल्पम् । अस्तु।। शु० यजु०— ३४।१६

---

१— पदानि संहितायाश्च पठ्यन्तेऽथ पृथक् पृथक्
विग्रहोऽपि भवेद्यत्र पदपाठः स उच्यते।।

२— पदविच्छेदोऽसंहितः — वा० प्राति० १/१५६

३— प्रगृध्य चर्यायामितिना पदेषु — वा० प्राति० ४/१८

४— तत्रैव — ४/२०

५— तत्रैव — ५/३

६— पुनरूक्तानि लुप्यन्ते पदानीत्याह शाकलः
अलोप इति गार्ग्यस्य काण्वस्यार्थवशादिति।। वा०प्राति० ४/१६८ तथा वा सं० ४/१६६ उब्बट्भाष्ये।

**क्रमपाठे नियमस्तस्य भाषिकं महत्वञ्च—**

क्रमपाठे पदद्वयस्य युग्मानि क्रमात् पूर्वपदं त्यक्त्वा योज्यन्ते तथोत्तरपदस्य ग्रहणमपि क्रियते[१]। द्विपदानां क्रमवर्गोऽवसानं यावद्भवति। क्रमपाठोऽयं विकृतिपाठस्य कृते महत्वपूर्ण:। शुक्लयजु: प्रातिशाख्यानुसारम् 'क्रम: स्मृतिप्रयोजन:[२] इति सूत्रेण संहिता विषयं पदविषयञ्च दृढ़स्मरणं करोति क्रमपाठे। संहिताया रक्षा पदानां मूलरुपस्य प्रदर्शनञ्चेति मूलप्रयोजनम्।

द्वयोर्द्वयो: पदयोर्वर्णसंहितोदात्तादिस्वरसंहिता च क्रमपाठेनैव जायते। संहितावसानस्य ज्ञानमपि क्रमपाठेनैव भवति। क्रमपाठ: शिष्टानां मध्ये सम्मानमपि ददाति। द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरमादसानाद पृक्तवर्जम्[३]। अनेन सूत्रेण प्राप्यते यत् क्रमपाठे द्वे द्वे पदे सन्दधाति उत्तरोत्तरं पदं सन्दधाति। अपृक्तपदं (आ, ऊ) मध्ये निधाय पदत्रयाणामपि क्रमवर्गो भवति[४]। क्रमपाठे स्थितोपस्थितस्य इति करणस्य च प्रयोगो भवति। क्रमपाठे द्विपदयोस्त्रयाणां वा पदानां क्रमो भाषा वैज्ञानिकतां दधाति। क्रमपाठस्योदाहरणं यथा—

धानावन्तं करम्भिमणम्। धानावन्तमिति धानावन्तम्। करम्भिणमपूपवन्तम्। अपूपवन्तमुक्थिनम्। अपूपवन्तवमित्यपूपवन्तम्। उक्थिनमित्युक्थिनम्। इन्द्र प्रात:। प्रातर्जुषस्व। जुषस्व न:। न इत्ति न:[५]।

विकृतिपाठेनियमस्तस्य भाषिकं महत्त्वञ्च—

संहिताया: पदानां नियमानुकूलां विकृतिं विधाय विविधरूपेण पाठो भवति विकृतिपाठे। संहितापाठस्य रक्षार्थं मूलपदस्यपरिज्ञितानार्थञ्च श्रुतिपरम्परायां विकृतय: प्रयुक्ता[६]। विकृतेर्वैविध्यमेव विविधविकृति—पाठस्यकारणम्। एकस्यमन्त्रस्याष्टौ विकृतयोभवन्ति। एकेनापि विकृतिपाठेन मन्त्रस्य प्रकृतिर्ज्ञायते।

---

१— पदद्वयस्य युग्मानि पूर्वं त्यक्त्वा पदं क्रमात्

योज्यन्ते यत्र पाठोऽयं क्रमपाठो निगद्यते।।

२— वा० प्राति० ४।१८२

३— तत्रैव— ४।१८३

४— तत्रैव— ४।१८४

५— शु० यजु०— २० । २९ मन्त्रस्य क्रमपाठ:

६— साक्षात्कृत धर्माणऋषयो वभूवु: तेऽवरेभ्योसाक्षात्कृत धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु: उपदेशायग्लायन्तोऽवरे विल्म ग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानि च। नि. १/६

अष्टौ विकृतयस्तु मन्त्राणां मूलज्ञाने सर्वथा समर्था एव। तत्राष्टौ विकृतय: सन्ति– जटा, माला, शिखा, रेखा, रथो दण्डो ध्वजो घनश्चेति। एता विकृतयो भाषावैज्ञानिकं महत्त्वमपि दधति। तत्रपदानां स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकाराणाञ्च नियमस्य पालनमावश्यकं भवति। सन्धिकार्यमितिकरणादिकञ्चापि तत्र क्रियते। विकृतिपाठानां विवरणं द्रष्टव्यम्–

**क– जटापाठ:–**

जटापाठो विकृतिपाठस्य प्रथमोभेद:। अस्मिन् विकृतिपाठे क्रमपाठस्य क्रमेण व्युत्क्रमेण पुन: क्रमेण च पठनं भवति[१]। व्युत्क्रमस्यार्थो भवति विपरीतक्रमेण। पदेषु सन्धिकार्यमपि करणीयं भवति। यथा जटायां केशा: परस्परं सम्मील्य सन्नद्धा भवन्ति तथैव जटापाठे क्रमपाठस्य शब्दा: क्रमव्युत्क्रमसंक्रमैश्च सन्नद्धा भवन्ति। तत्रोदाहरणं यथा–

धानावन्तं करम्भिणं करम्भिणं धानावन्तं धानावन्तं करम्भिणम्। धानावन्तमिति धानावन्तम्। करम्भिणं मपूपवन्तं अपूपवन्तं करम्भिणं करम्भिणपूपवन्तम्[२]।

**ख– मालापाठ:–**

विकृतिपाठेषु मालापाठो द्विधा– पुष्पमालाक्रममालाचेति। तत्र पुष्पमाला– यत्र त्रयाणां पदानां क्रमेण व्युत्क्रमेण संक्रमेण च पाठो भवति। क्रमण्युत्क्रमसंक्रमपद्धत्यात्रयाणां पदानामावर्तनं क्रियते सा पुष्पमाला[३]। यथा–

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतम्। घृत शोचिषे सुसमिद्धाय। सुसमिद्धाय शोचिषे घृतम्। सुसमिद्धायेति सुसमिद्धाय। घृतं तीव्रं जुहोतन। जुहोतन तीव्रं घृतम् । घृतं तीव्रं जुहोतन। जुहोतनेति जुहोतन४।।

क्रममालापाठे क्रमपाठं विपरीतं विधाय पठनीयं भवति। संहिताया: प्रारम्भिक: क्रमपाठोऽन्तिम: क्रमपाठश्च विलोमपद्धत्या पठ्यते तत्र क्रमश: एकैकं, पदं प्रारम्भस्येकमन्त्रस्येकञ्च विहाय

---

१– क्रमं यथोक्तं प्रब्रूयाद् व्युत्क्रमेण क्रमेण च
स लक्षणं सर्वसन्धौ जटा सा प्रोच्यते बुधै: ।।

२– शु० यजु:– २०।२५

३– माला मालेव पुष्पाणां पदानां ग्रन्थिनी हिं सा
आवर्तन्ते त्रयस्तस्यां क्रमण्युत्क्रमसंक्रमा:।।

४– शु० यजु०– ३।२

पठनीयं भवति। क्रमपाठस्य मालावत् पठनेन क्रममालेति कथ्यते[१]। यथा–

यज्ञेन यज्ञम्। आसन्नित्यासन्। यज्ञमयजन्त। आसन्प्रथमानि। अयजन्त देवा:। प्रथमानि धर्माणि। देवास्तानि। धर्माणि तानि। तानि धर्माणि। तानि देवा:। धर्माणि प्रथमानि। देवा अयजन्त। प्रथमान्यासन्। अयजन्त यज्ञम्। आसन्नित्यासन्। यज्ञं यज्ञेन[२]।

**शिखापाठ:**

जटापाठे एकमुत्तरं पदं संयोज्य यस्यां विकृतौ पठ्यते स शिखापाठ:। पदोन्तरत्वे सति शिखावद् दृश्यमानत्वात् शिखेति कथ्यते। शिखापाठ:। शिखायां क्रमपाठस्य क्रमेण व्युत्क्रमेण संक्रमेण च पदोत्तर सहित: पाठोभवति[३]। शिखापाठो यथा–

घानावन्तं करम्भिणं करम्भिणं धानावन्तं धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तम्। धानावन्तमिति धानावन्तम्। करम्भिणमपूपवन्तमपूपवन्तं करम्भिणं करम्भिणंपूपवन्तमुक्थिनम्[४]।

**रेखापाठ:**

द्विभिश्चतु: पंच पदक्रमं क्रमात् पृथक् पृथक् विपर्यस्य पुन: क्रमात् पठनमेव रेखापाठ:[५]। रेखावद् दृश्यमानत्वाद्रेखेति कथ्यते। रेखा पाठो यथा–

वृहस्पते परि। परि वृहस्पते। वृहस्पते परि– द्विपद: परिदीयारथेन। रथेन दीयपरि। परिदीयारथेन[६]–त्रिपद:

**ध्वजपाठ:–**

यत्रक्रमवर्गे ऋचायां वादे: क्रमं ब्रूयादन्ताच्च सम्यगुत्तारयेदिति क्रमेण पठनं ध्वजपाठ:[६]। ध्वजपाठो यथा–

---

१. ब्रूयात् क्रमविपर्यस्य वृद्धिर्यस्यादितोऽन्तत:
अन्तश्चादिन्नयेदेवं क्रममासेति गीयते।।

२– शु० यजु० ३१/१६

३– पदोत्तरां जटामेव शिखामार्या: प्रचक्षते।

४– शु० यजु० २०/२९

५– क्रमाद्वित्रिश्चतु: पंच पदक्रममुदाहरेत
पृथक् पृथक् विपर्यस्य रेखामाहु: पुन: क्रमात्।

६– शु० यजु: १७/३६

७– ब्रूयादादे: क्रमं सम्यगन्तादुत्तारयेदिति
वर्गे वा ऋचि वा यस्य पठनं स ध्वज:स्मृत:।

बृहस्पते परि। रथानामिति रथानाम्। परिदीय। अविता रथानाम्। दीयपरि। एध्यविता। रथेनरक्षोहा अस्माकमेधि। रक्षोहामित्रान्। जयन्नस्माकम्। रक्षोहेति रक्षः हा। युधाजयन्। अमित्राँ ऽ पबाधमानः। प्रमृणोयुधा।[१]

**दण्डपाठः**

दण्डविकृतिपाठोऽयं द्विधाभवति—क्रमदण्डः पददण्डश्च। क्रमदण्डे क्रमपाठस्य दण्डाकृतिः पददण्डे च पदानां दण्डाकृतिर्दृश्यते। क्रमदण्डपाठे क्रममुक्त्वा तस्य विपरीतंविधाय पुनश्चोत्तरक्रमस्य पाठं कुर्वन् अर्धर्चादेव पठनीयं भवति। दण्डपाठो यथा—

ताऽ उभौ। उभौ तौ। ता ऽ उभौ। उभौ चतुरः। चतुरऽउभौ तौ। ता ऽ उभौ। उभौ चतुरः। चतुरः पदः। पदश्चतुर ऽ उभौ तौ। ता ऽ उभौ उभौ चतुरः। चतुरः पदः। पदः सम्प्रसारयावः। सम्प्रसारयाव पदश्चतुर ऽ उभौ तौ।[२]

**रथपाठः —**

पादशोऽर्धर्चशो वा दण्ड पाठवद् रथपाठस्य पठनं भवति।[३] रथ पाठोऽपि द्विधा भवति—द्विपाद्रथश्चतुष्पाद्रथश्चेति। द्विपाद्रथोयथाअनिशितोऽसि। अनिशितासि। अस्यनिशितः। अस्य निशिता। अनिशितोऽसि। अनिशितासि। अनिशितऽइत्यनिशितः। अनिशितेत्यनिशिता। असिसपत्नक्षित्। असिसपत्नक्षित्। सपत्नक्षिदस्य निशितः। सपत्नक्षिदस्य निशिता।[४]

चतुष्पाद्रथो यथा—

स्वस्ति नः। स्वस्ति नः। स्वस्ति नः। स्वस्ति नः।।

नः स्वस्ति। नः स्वस्ति। नः स्वस्ति। नः स्वस्ति।।

स्वस्ति नः। स्वस्ति नः। स्वस्ति नः। स्वस्ति नः।।

न ऽ इन्द्रः। नः पूषा। नस्तार्क्ष्यः। नस्तार्क्ष्यः। नो बृहस्पतिः।।[५]

**घनपाठः**

घनपाठोऽपि द्विधाभवति—प्राचीन घनपाठो नवीनघनपाठश्च। प्राचीन घनपाठे अन्तात्क्रममादिपर्यन्तं पूर्वमानयेत् तथा आदिक्रमञ्चान्तं नयेदिति।[६] नवीनघनपाठे शिखापाठस्य प्रथमं कथनं तदनन्तरं विपरीत

---

१— शु०यजु० १६/३६

२— तदैव— २३/२०

३— पादशोदर्धर्चशो वापि सहोक्त्वा दण्डवद्रथः।

४— शु० यजु० — १/२९

५— तत्रैव—२५/१९?

६— अन्तात्क्रमं पठेत्पूर्वमादिपर्यन्तमानयेत्

आदिक्रमं नयेदन्तं घनमाहुर्मनीषिणः।।

क्रमपठनं पुनश्चशिखापठनमेव भवति।[1] नवीन घनपाठो यथा—धानावन्तं करम्भिणं करम्भिणं धानावन्तं धानावन्तं करम्भिणमपूप वन्त वन्तमपूपवन्तं करम्भिणं धानावन्तं धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तम्। ६ ाानावन्तमिति धानावन्तम्।

**विकृति पाठस्य सामाजिकं भाषिकञ्च महत्त्वम्—**

साहित्यं सामाजिक चित्रस्य चित्रागारं सामाजिकवृत्तस्य वृत्तागारं सामाजिकबिम्बस्य बिम्बागारं विद्यते। शब्दार्थ सम्वसिते साहित्ये शब्दा अर्थाश्च भाषया सम्बद्धा भवन्ति। यथा शब्दानां साहित्येन सह नित्यसम्बन्धो विद्यते तथैवार्थानामपि नित्यसम्बन्धः शब्देन सह साहित्येन सह विद्यते। शब्दार्थ संवसितस्य साहित्यस्य रक्षणेन सामाजिक स्थितेश्चित्रं रक्षितं भवति, वृत्तं बिम्बञ्च रक्षितं भवति। वैदिकसाहित्ये भारतीया प्राचीनसंस्कृतिः सुरक्षिताऽस्ति। तत्र मन्त्राणां महत्त्वं सुविदितं पूर्वप्रतिपादितञ्च। मन्त्राणां रक्षणेन संस्कृतेर्ज्ञानं रक्षितं भवति। प्राचीनसंस्कृतेर्ज्ञानाय तस्य यथार्थचित्रस्य दर्शनाय च सामाजिक राजनीतिक धार्मिकादिवृत्तस्याववोधायाध्यात्मिकदृशा यज्ञादौ सम्यक् फलावाप्तये यज्ञादीनां सम्यक् सम्पादनाय मन्त्राणां रक्षणं तेषां प्रकृतेर्ज्ञानमावश्यकमेव। मुद्रणयन्त्राविष्कारात्पूर्वमेव तेषु मन्त्रेषु स्वरवर्णादिजनितं किमपि परिवर्तनं न भवेदितिहेतोस्तेषां विकृतिपाठस्य योगः सामाजिकलाभाय एव।

भाषाविज्ञानं साहित्ये प्रयुक्तानां शब्दार्थानां तत्त्वप्रकाशने निरतं वेदानां विकृतिपाठेष्वपि पदानामर्थानां सम्बन्धतत्त्वानाञ्च प्रकाशकत्वेनाङ्गभूतम्। भाषारक्षणसम्बद्धा एतादशी प्रक्रिया विकृतिपाठरूपेण प्राचीन भारते प्रचलिताऽभूदिति तां भाषारक्षणे किमुत मन्त्ररक्षणे विकृतिपाठरूपां प्रक्रियां दृष्ट्वा भाषा वैज्ञानिका अपि विस्मिताः सन्ति। श्रुतिपरम्परायां संहितारक्षणस्य या प्रक्रिया भारते प्रचलिता नैतादृशी कुत्रापि प्राप्यते। वैज्ञानिकेऽस्मिन्नुयुगे यद्यप्यनेकानि यन्त्राणि विद्यन्ते तानि भाषाया विविधतत्त्वानां प्रकाशने निरतानि सन्ति परं पुरा एतादृशानां यन्त्राणामभावेदऽपि विकृतिपाठवलेन मन्त्राः सुरक्षिता आसन्। अद्यापि वेदमन्त्राणां रक्षणं विकृति पाठ प्रयोगेण भारतस्यानेकेषु स्थलेषु क्रियते। भारताद्वहिरपि प्रक्रियेयं ज्ञायते।

पाणिनीयशिक्षानुसारं स्वरतो वर्णतो वा हीनो मन्त्रो मिथ्या प्रयुक्तो भवति। यस्यार्थस्यापेक्षा मन्त्रे क्रियते तत्र स्वरहीनेन वर्णहीनेन वा मन्त्रेण तस्यावगमो न भवति।[2] अत एव मन्त्राणां मूलपाठस्य रक्षणाय विकृति पाठस्य योगदानं भाषाविज्ञानदृशापि महत्त्वपूर्णम्।

---

१— शिखामुक्तवा विपर्यस्य तत्पदानि पुनः पठेत्।।

२— मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोपराधात्।।

**निष्कर्ष :**

समाजे वैदिककालादेव प्रचलिता ऋषिभिर्दृष्टा यज्ञसम्पादने प्रयुक्ताश्च मन्त्रा: श्रुतिमाध्यमेनैव सुरक्षिता विद्यन्ते। मुद्रणयन्त्रस्याविष्कारात् पूर्वं श्रुतिमाध्यमेनैवे वेदमन्त्राणां रक्षणं जातमिति वेदस्य पर्यायभूतेन श्रुतिशब्देनापि ज्ञायते। श्रूयतेऽनयेति श्रुतिर्वेदस्यैव वाचकः। मन्त्राणामभ्यासेन मन्त्रावगतिर्भवति। श्रुतिवाग्यन्त्रादिदोषात्तत्र दूषणसम्भवत्वादेव मूलमन्त्राणां रक्षार्थमष्टौ विकृतयःप्रयुक्ताः। मूलमन्त्राणां रक्षणं श्रुतिपद्धत्या विकृतिपाठरूपेण प्रकल्पितम्। एकस्यैव संहिता पाठस्य निर्मितेष्वष्टसंख्यकेषु विकृति पाठेषु एकेनापि विकृतिपाठेन तेषां रक्षणं मूलप्रकृतेर्ज्ञानञ्च निश्चितमस्ति। सर्वेषां विकृतिपाठानां प्रयोगेणतु वेदस्य प्रकृतेः रक्षणं निश्चप्रचमेव।

❖ ❖ ❖

# "धन्यास्ते जयचन्द्रविद्यालंकाराः"

## (सत्यदेवनिगमालङ्कारः, गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयः, हरिद्वारम्)

यदा देशेऽस्मिन् भारते लार्डमेकाले: इत्याख्यस्य शिक्षाविद: शिक्षा सर्वत्र प्रसरति स्म, भारतीया जना भारतदेशे जन्मग्रहणानन्तरं वर्णेन शरीरेण भारतीया: सन्तोऽपि हृदयेन, मस्तिष्केण च अभारतीया भूत्वा आंग्लभाषया आंग्लवेषेण च भूषिता: सन्तो गौरवमनुभवन्ति स्म तदा रामकृष्णयोर्देशस्य इमां दुरवस्थां विनाशयितुं गुजरातप्रान्तस्य भूमौ मूलशंकरो जन्मलेभे। प्राग्जन्मन: संस्कारेण तपस्यया च बालोऽयं मूलशंकर: कालानन्तरं वैराग्यं प्राप्य दयानन्दो बभूव। तस्यैव शिष्येण श्रद्धानन्दस्वामिना महता प्रयत्नेन पाश्चात्यशिक्षां विनाशयितुं भारतीयशिक्षापद्धतिञ्च प्रसारयितुं गुरुकुलशिक्षा प्रणालीं भारतस्यैके कोणे तीर्थभूते हरिद्वारे कांगड़ीनाम्नि एकान्ते शान्ते महारण्ये ग्रामे १९०० खीष्टाब्दे कुल–संस्थां संस्थापयामास। शनै: शनै: शिक्षणालयस्यास्य स्नातका विद्वांसो लेखका: पत्रकाराश्चिकित्सका आर्यधर्म–धुरन्धरा देशे विदेशे च दयानन्दस्वामिन: संस्थापितस्यार्यसमाजस्य ध्वजोत्तोलका: पुरोहिता: तपस्विन: संन्यासिन:, ब्रह्मचारिण: उपदेशका: भजनोपदेशका: प्राध्यापका: व्यापारिणो देशसेवाव्रतधरा भारतीयस्वातन्त्र्य संग्राममहोत्सवम् अभिनन्दमानाश्च अभवन्। एषु एव चिरकीर्तिधरेषु स्नातकेषु लायलपुरप्राप्तान्तर्गते किजकोट नाम्निस्थाने ५ सितम्बर १८९८ खीष्टाब्दे चन्द्र इव विजयकर: जयचन्द्रो जन्म लेभे। श्रद्धानन्दस्वामिन: अन्तेवासी अयं स्नातकोपाधिना विद्यालङ्कारेणालंकृत: प्रथमं कांगड़ी गुरुकुले एव अध्यापयाञ्चकार। तदनन्तरं सूरतस्थ राष्ट्रीयमहाविद्यालय:, लाहौरस्थ कौमीकालेज:, बिहारविद्यापीठम्, काशीविद्यापीठम्, बम्बईनगरस्थ भारतीय विद्याभवनम् इत्येतेषु शिक्षासंस्थालयेषु शिक्षां विस्तारयामास। कक्षायामध्यापनकाले स्वछात्राणां मस्तिष्के भारतीयपराधीनताया: श्रृङ्खलाम् उच्छेत्तुं भावभरितान् गम्भीरान्विचारान् प्रेरयामास। तत्काले अपराधप्रवृत्ति: प्रेरणा इयमिति उद्घोषमाणा आंग्लशासंका इमं स्वतन्त्रव्रतानुरागिणं धर्म धुरीणं बहुधा कारागारे प्रक्षेपयामासु:। गुरुकुलस्य स्नातकं दयानन्दोदभावकम् इमं जयचन्द्रविद्यालङ्कारं बहुकालं यावत् अवरोद्धुं न समर्था बभूवु: कारागारे। बन्दिगृहाभ्यन्तरमेव अस्य विचारा: सुदृढा: संजाता: यत् यावत् भारतीयेतिहासस्य वास्तविकं स्वच्छं स्वरूपं जना: नावलोकयिष्यन्ति तावत् तेषां हृदये आंग्लशासकान् प्रति स्वतन्त्रा विचारधारा: न प्रवर्तयिष्यन्ति। एवं विचार्य अयं महानुभाव: शुद्धभारतीयेतिहासं रचयामास। यस्मिन् ग्रन्थे आर्या भारते जन्म लेभिरे, ते नासनशिक्षिता: न चासन् नास्तिका: इत्यादीन् विषयान् विशेषेण अयं प्रसारयामास। भारतीयामार्यभाषां (हिन्दीं) प्रचारयितुम् अहर्निशमयं प्रयेते। इमं प्रयत्नमेवावलोक्य बहुधा अखिलभारतीयहिन्दीसाहित्यसम्मेलने गुरुकुलस्नातकमिमं

जयचन्द्रं विद्याधनं सम्मेलनाधिकारिण: प्रधानपदे अभिषेचयामासु:। इतिहासविषयं समाजविषयञ्चाधिकृत्य अयं लेखक: नैकानि ग्रन्थरत्नानि विद्यासमुद्रात् उच्चकर्ष।

एष जयचन्द्रमहानुभाव: प्रयागस्थ हिन्दीभवनसंस्थापकोऽप्यासीत्। अयं साहित्यसेवाकरणात् हिन्दीसाहित्यसम्मेलनस्य मंगलाप्रसादपुरस्कारं पंजाबसर्वकारस्य च पुरस्कारं लेभे। एतादृशा: स्नातका: कुलभूमिभूषका: पापाचारविनाशका: भारतीयमृतशरीरे प्राणप्रसारका: साहित्यव्रतकर्मणि निरता:, रताश्चवेदविद्याप्रकाशने, विद्यालङ्कारा: कस्य न वन्द्या। अत एव तेषां जयचन्द्रविद्यालङ्काराणां जन्मशत्यवसरे समुत्थितानि हृत्कुसुमानि श्रद्धया समर्पयत्येषो निगमालङ्कार:।

जयचन्द्र चन्द्रवत्तव कर्म
आह्लदयति भारतभूमिम्।
नवशिक्षादानप्रधानविधिं,
गुरुकुलभूमिं तव कुलभूमिम्।।
हे धैर्यधुरन्धर, धर्मप्रसारक,
विद्यालङ्कारविभूषित शिव हे।
तव कं कं श्रेष्ठगुणं गुणिन:,
कथयेम वयम् अनुजा जय हे।।

❖ ❖ ❖

# दीक्षालोक

**सम्पादक : श्री विष्णुदत्त जी राकेश**

**सह सम्पादक : श्री जगदीश विद्यालंकार**

कभी 'सादा जीवन उच्च विचार' सेवा व समर्पण भाव देश के आदर्श थे। नि:शुल्क शिक्षा व तपश्चर्या का वातावरण देशवासियों का सपना था। दीक्षालोक में स्वामी श्रद्धानन्द जी, महात्मा गांधी, आचार्य नरेन्द्र देव, आचार्य नरदेव, सत्यमूर्ति जी, सम्पूर्णानन्द जी, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी व वासवानी जी जैसी विभूतियों के उद्बोधन पढ़कर देशवासी अतीत में विलीन अपने स्वत्व, स्वाभिमान व स्वालम्बन को खोज सकेंगे। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रशंसनीय है। विभूतियों के साथ बौनों को जोड़ना मुझे अच्छा नहीं लगा। यह तो Three X lagged race तीन टांगों की दौड़ हो गई। ऐसी दौड़ में (Fun) तमाशा अधिक हो जाता है। शक्ति प्रदर्शन कम।

**प्रो० राजेन्द्र 'जिज्ञासु'**
अध्यक्ष
स्वामी स्वतन्त्रानन्द शोध संस्थान
अबोहर—१५२११६

❖ ❖ ❖

साहित्य समीक्षा-

# स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख

**प्रधान सम्पादक : डॉ० विष्णुदत्त राकेश**

**सम्पादक : डॉ० जगदीश विद्यालंकार**

यह कार्य बहुत पहले हो जाना चाहिये था। फारसी में कहते हैं– 'देर आयद दुरुस्त आयद' विलम्ब से हुआ परन्तु, बहुत अच्छे ढंग से हो गया। सम्पादक द्वय व गुरुकुल कांगड़ी को इस पवित्र, ऐतिहासिक एवं करणीय कार्य की सम्पन्नता पर किन शब्दों में बधाई दूँ? गृह कलह, पदों की छीनाझपटी व कोर्ट कचहरी की व्यस्तताओं के कारण आर्यसमाज अपने एक महाबलिदानी, सर्वोच्च नेता, चुम्बकीय व्यक्तित्व, शूरता की शान व अटल ईश्वर विश्वासी स्वामी श्रद्धानन्द जी के लेखों के संकलन व प्रकाशन के प्रति उदासीन रहा। यह एक अक्षम्य अपराध है। सम्पादक द्वय ने इस पाप के कलंक के टीके को बहुत कुछ धो दिया हैं।

भारतीय जन जागरण के, स्वाधीनता संग्राम, समाज सुधार व आर्यसमाज के इतिहास का अध्ययन करने वालों के लिये यह एक आवश्यक संदर्भ ग्रन्थ है। इसके बिना बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक २५ वर्षों के भारतीय समाज को समझना कठिन है। इन लेखों के प्रकाशन से अनेक छोटी बड़ी महत्वपूर्ण घटनाओं का अनावरण हो गया है।

परन्तु अभी भी यह कार्य एक प्रकार से अधूरा है।'सत+धर्म+प्रचारक' उर्दू साप्ताहिक व 'तेज' में प्रकाशित स्वामी जी के सैकड़ो सम्पादकीय व महत्वपूर्ण लेखों का भी ऐसा ही एक संकलन प्रकाशित होना चाहिये। उर्दू 'सत+धर्म+प्रचारक' में १८ वर्षों में स्वामी जी ने बहुत कुछ लिखा। उसके सभी सम्पादकीय तो उनके द्वारा लिखित नहीं हैं तथापि जितने भी हैं उनका भी सम्पादन प्रकाशन होना चाहिये। यदि ईश्वर ने चाहा तो मैं ही यह कार्य कभी कर दूँगा।

इस ग्रन्थ के साथ भी लेखों में उद्धृत प्रमाणों व नाम, स्थान आदि की सूचियाँ होनी ही चाहिये। इतने बड़े महापुरुष के लेखों में ऐसे अनेक नाम व प्रमाण होते ही हैं जिनका अता पता भी होना चाहिये व निर्देशिका भी। गुरुकुल विश्वविद्यालय को इस ओर भी ध्यान देना होगा।

पुनः इस ग्रन्थ की सुन्दर साज सज्जा व मुद्रण आदि के लिये बधाई भेंट करता हूँ। एक अभाव की तो पूर्ति हो गई।

**प्रो० राजेन्द्र 'जिज्ञासु'**
अध्यक्ष
स्वामी स्वतन्त्रानन्द शोध संस्थान
अबोहर–१५२११६

❖ ❖ ❖

साहित्य समीक्षा-

# इन्द्र विद्यावाचस्पति : कृतित्व के आयाम

**लेखक : प्राध्यापक कुशलदेव शंकरदेव जी कापसे**

बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री पं० इन्द्र जी ने देश और जाति के लिये क्या नहीं किया। तन से, मन से और धन से राष्ट्र की जो सेवा की उसका वर्णन करने में लेखनी अक्षम है। रोगी शरीर वाले इन्द्र जी ने मुलतान जैसी नरकीय जेल में अपना लम्बा बन्दी जीवन कैसे बिताया, यह भी किसी चमत्कार से कम नहीं। पण्डित जी ने भिन्न भिन्न चिरसंगी रोगों के होते हुए एक से बढ़कर एक विचारोत्तेजक ग्रन्थों व लेखों का सृजन कैसे कर दिया? यह सोचकर बड़ा अचम्भा होता है। वे कवि थे, पत्रकार थे, जीवनी लेखक थे, उपन्यासकार थे, निबंध लेखक थे, नाटककार थे, निबन्धकार, सम्पादक, समाज सेवी, नेता, विचारक और संस्थाओं के शिल्पी थे। जहाँ भी पग धरा–एक सृष्टि ही रच दी।

मुझे आज भी भली भाँति स्मरण है कि ४७ वर्ष पूर्व उनके निवास चन्द्रलोक में उनके समीप बैठा था तो उनके श्वास लेने की आवाज सुनाई देती थी। ऐसी शरीरिक अवस्था में पं० इन्द्र जी ने बिना राजकीय संरक्षण के, किसी पूंजीपति के आश्रय के बिना किसी अनुदान की ओर न ताकते हुए सहस्त्रों पृष्ठ लिख डाले।

ऐसे नर रत्न के व्यक्तित्व व कृतित्व पर प्रो० कुशलदेव जी का यह अनुपम ग्रन्थ पठनीय व संग्रह करने योग्य है। कुशलदेव जी ने जिस कुशलता से इस करणीय कार्य को सम्पन्न किया है, वह अत्यन्त प्रशंसा के योग्य है। ग्रन्थ का एक–एक पृष्ठ लेखक के अथक परिश्रम, साहित्यिक कौशल, लग्न व प्रतिभा का परिचय देता है। इस करणीय कार्य के लिये उन्हीं जैसे विद्वान की सतत् साधना की आवश्यकता थी। उन्होंने श्रद्धेय पण्डित जी के जीवन के विविध पक्षों पर गहन चिन्तन व व्यापक अध्ययन करके ग्रन्थ को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का भगीरथ प्रसास किया है।

अच्छा होता यदि ग्रन्थ के साथ (Index) निर्देशिका भी दी जाती। यह कमी चुभती है। प्राध्यापक कुशलदेव जी को श्री पण्डित जी का एक लोकोपयोगी जीवन–चरित भी लिख डालना चाहिये। श्री पंडित जी के विचारोत्तेजक निबंधों की खोज करके इसे खण्डों में सम्पादित करके प्रकाशन का काम भी कुशलदेव जी को हाथ में लेना चाहिये। उनके 'कर्म–फल सिद्धान्त' जैसे विस्तृत निबंधों का बार–बार प्रकाशन होना चाहिये।

भाषा, भाव व शैली सब दृष्टियों से यह ग्रन्थ अत्युत्तम है। मैंने शोध प्रबंध तो बहुत पढ़े हैं परन्तु ऐसा शोध प्रबंध Scissoring कतरन मात्र न होकर एक ठोस कार्य है। पण्डित जी के व्यक्तित्व के अनुरूप ही ग्रन्थ लिखा गया है। प्रूफ की कुछ अशुद्धियाँ बहुत खलती हैं। गुरुकुल कांगड़ी का श्रद्धानन्द शोध संस्थान इस ग्रन्थ का प्रकाशन करके गौरवान्वित हो गया है। मैं इसे अपना एक प्रिय ग्रन्थ (Favourite Book) कह सकता हूँ।

**राजेन्द्र 'जिज्ञासु'**
अध्यक्ष
स्वामी स्वतन्त्रानन्द शोध संस्थान
अबोहर–१५२११६

❖ ❖ ❖

साहित्य समीक्षा-

# स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख

— सम्पादक द्वय
डॉ० विष्णुदत्त राकेश तथा डॉ० जगदीश विद्यालंकार
प्रकाशक— स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार

हिन्दी पत्रकारिता के विकास में स्वामी श्रद्धानन्द का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने अपने उर्दू साप्ताहिक, सद्धर्म प्रचारक को १९०७ में हिन्दी में निकालना आरम्भ किया। तब से लेकर पर्याप्त समय तक यह पत्र भारतीय धर्म, शिक्षा, संस्कृति तथा राष्ट्रीय गतिविधियों पर निष्पक्ष, सटीक विचार व्यक्त करता रहा। १९२० में उन्होंने एक अन्य पत्र भी निकाला। इन पत्रों में स्वामीजी ने वर्षो तक सार्वजनिक विषयों पर सम्पादकीय लेखों के रूप में जो कुछ लिखा वह वाङ्मय की अपूर्व निधि थी। यद्यपि स्वामीजी द्वारा लिखे गये साहित्य को तो सम्पादित कर प्रकाशित किया गया है किन्तु समाचार पत्रों की फाइलों में बंद इस सामग्री को प्रथम बार पाठकों के समक्ष लाने का यह प्रयास ऐतिहासिक तो है ही श्लाघनीय भी है। छः सौ से अधिक कलेवर के इस ग्रन्थ में सद्धर्म प्रचारक के १३६ तथा श्रद्धाके ९५ सम्पादकीय संगृहीत हैं। इनके अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक स्थितियों की विस्तृत जानकारी मिलती है। डॉ० विष्णुदत्त राकेश ने ग्रन्थारम्भ में एक विशद भूमिका लिख कर विषय की महत्ता पर प्रकाश डाला है। इस प्रभावशाली विवेचन में इन सम्पादकीय लेखों के कथ्य की सम्यक् मीमांसा प्रस्तुत की गई है। आशा है स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन एवं व्यक्तित्व के समग्र मूल्यांकन में यह ग्रन्थ सहायक होगा और तत्कालीन इतिहास के अध्येता तत्कालीन परिस्थितियों को समझने में इससे भरपूर लाभ उठायेंगे। ग्रन्थ की साज सज्जा तथा छपाई उत्कृष्ट है।

डॉ० भवानी लाल भारतीय
रत्नाकर ८/४२३, नन्दन वन, जोधपुर
राजस्थान — ३४२००८

# The Epistemological System of Swami Dayananda

**Dr. Surendra Kumar**
**Deptt. of Sanskrit,**
**Pali and Prakrit,**
**Maharshi Dayanand University,**
**Rohtak.**

Epistemology is the main branch of Philosophy in which we study the origin, nature and methods of knowledge. The organised study of philosophy was started primarily to help man to ascertain truth in his daily experiecne, so as to enable him to distinguish it from the false. This ascertainment of truth, therefore, is naturally the first and foremost aim of Philosophy, and it becomes incumbent upon Philosphers to define truth and error in clear terms, and indicate the instruments and channels whereby they (truth and error) can be ascertained. The fact that the six schools of Indian philosophy have recognised the value of the preliminary ascertainment of the sources and limitations of human knowledge points to the uniquely high distinction characteristic of them all.[1] Much controversy, philosophers on the question of the theory of knowledge. Dayananda also saw the need to pen his views on this subject and it is interesting to observe how he relates his epistemological views to those propounded by his predecessors.

The charvakas deny the separate existence of the soul on the basis that the existence of the soul is not demonstrable by direct cognition. They feel that it takes its birth simultaneously with the birth of the body and is dissolved with its dissolution.[2] Criticising this view, Swami Dayananda feels that if the soul were not a separate entity in itself, how could it be that with its coming into contact with the body the letter becomes possessed of conscious efforts, and a separation of the two causes the body to be devoid of consciousness. The soul is the entity possessed of the power of sensuous perception, though itself cannot be an object of that mode of perception, exactly in the same way as the eye which cannot see itself,

even though we know that it can see all objects. Through the instrumentality of the eye, the soul sees objects of the world, but it is conscious of the existence of the eye through inferential reasoning. The soul is the subject of sensuous perception, the subject and the seer of knowledge. The existence of this subject is fundamental to the whole nation of perception and knowledge. Without the former, the letter would have no meaning, just as a thing supported cannot exist wothout a supporter, an effect without a cause, an act without a doer.[3] Dayananda emphatically states that the inner self of man is certainly the knower (of truth and untruth).[4] For Swami Dayananda, the idea of the knower is an axiom, a self-evident and universally accepted truth, not in need of any process of reasoning. He agress with Shankaracharya who posits that everyone feels that his self exists and no one feels "I do not exist" had there been no general recognition of the existence of the self, everyone would have felt that "I do not exist"[5].

Shankaracharya dose not accept the idea of there being an object of knowledge separate from the self, the only entity he accepts as being existent. Distinguishing between the ontological and empirical realities, he states that this distinction of knower and known finds no meaning in the highest experience, in the trans-empirical, object-subjectless consciousness. In other words, Acharya Shankra contends that the self is itself pure consciousness, and as such cannot be either the subject or object of the knowing process. For him, the process of knowledge is nothing more than a manifestation of the ultimate reality which is the self. Swami Dayananda's position is in complete contradistinction to that of Acharya Shankara. The very fact of knowledge, states Swami Dayananda, presupposes both a subject and an object, both separate in themselves.[6] The object of the process of knowledge is everything other than the seer, i.e. God and the Universe, both of which are real. The universe cannot be classified as unreal because whatever is perceptible to the sense is bound to reflect reality and cannot be categorised as nothing.[7] When the soul becomes freed from all impurities after having devoted itself to the practice of Yoga, it becomes cognisant of the Divine Spirit.[8] Again, through the instrumentality of the eyes and the other senses, it becomes cognisant of objects of the world.[9] The fact of there being both a subject and an object of knowledge comes out in clear

terms in Swami Dayananda's system when he criticises the Vaibhashika doctrine of everything being nought. Swami Dayananda posits that the fact of everything being nought is itself an object of a knowing process, and for this notion of nought to become the cornerstone of any system of philosophy, someone had to know it as such in order to make a declaration in its favour.[10]

In his opening remarks preceding his commentary on the first sutra of the Vedanta Darshana, Acharya Shankara states very emphatically that the subject and object of knowledge are by nature as contradictory to each other as light and darkness, and cannot logically have any relation between themselves.[11] The subject is the only reality, while the object is unreal. All knowledge, whether perceptual or conceptual, attempts to reveal reality or the ultimate spirit.[12] It is not, therefore, Possible for us to discover any true relation between the consciousness and the objects of consciousness.[13] Swami Dayananda's understanding of the nature and function of knowledge constitutes a condemnation of the position adopted by Acharya Shankara. For Swami Dayananda, the nature of knowledge can be seen from its function, and the function of knowledge is to provide the base for its potential knower to discriminate and be cognisant of objects. For this reason. Swami Dayananda defines knowledge as real knowledge, the knowledge of reality, the correct experience resulting from being cognisant of the attribute, nature and function of an object exactly as they are, and not otherwise. The very opposite to this results in erroneous knowledge. From this definition, we can see a natural and positive relation existing between the subject and object, the base of which is provided for by knowledge. This triad, therefore, of knower, knowledge and known will always be rendered incomplete, thus contradicting experience, should any one of the constituents be denied its validity and function. Summarising Swami Dayanda's criticism of Acharya Shankara's theory of knowledge, Ganga Prasad Upadhyaya observes, "Should, then, the reality be quite free from relationship, absolutely absolute, unrelated, and unrelatable with anything else, not known, not knowledge, not even knower ? What logical, psychological or epistemological grounds are there for such a hypothesis, much less for such a doctrine ? How to presuppose that the knower is as opposite to the known as light to darkness ? When I say that I know a table, are the

conception of 'I' and the conception of the 'table' as opposite as light and darkness ? It is true that the table is not I, nor I the table, yet there is a relation between them, Which does not exist between light and darkness. The simile used is highly inappropriate and unwarranted and any super structure built on such a slippery foundation cannot but be shaky.[14]

When Swami Dayanada talks of knowledge, he refers to that knowledge free from error, doubt and distortion. This is the same knowledge that Maharshi Kanada and Maharshi Gautama refer to in their sutras by the use of the words 'vidya' and 'yathartha anubhava' respectively. However, not everything that the soul perceives via its instruments of perception constitutes knowledge. Should there exist any deficiency in the instruments of perception, then it follows naturally that the perception itself would be defective, subject to error and distortion, and filled with doubt. This no longer remains knowledge (jnana) but becomes ill knowledge, or erroneous knowledge, also called ignorance. The Sanskrit word for this ignorance is 'ajnana'. The prefix 'a' supplied before 'jnana' does not point to an absence of knowledge, but to erroneous knowledge,[15] produced through defective faculties and mental tendencies.[16] Defining this ignorance, Swami Dayananda says that it is that by which the true nature of things is not revealed and instead, a false conception of things is formed.[17] In an effort to elaborate on the characteristics of this false knowledge Swami Dayananda quotes Maharshi Patanjali :-

1. The false notion that the world of effects that we feel and see has always been existing, and will continue to exist for ever, and that by the virtue of the power of yoga the physical bodies of godly men will become imperishable, constitutes the first kind of ignorance.

2. To regard impure things as pure is the second kind.

3. To regard the source of pain as the source of happiness is the third kind.

4. To regard the inert and unconscious as possessed of soul is the fourth.[18]

This four-fold incorrect knowledge makes up 'avidya', while the reverse of it all constitutes knowledge. [19] The above description of knowledge and ignorance makes us feel that Swami Dayananda certainly disagrees with Acharya Shankara and his concept of ignorance or avidya. The latter contends that superimposing the attributes of the Unreal unto the real constitutes avidya (ignorance)[20], and ascertaining the nature of the real by separating the superimposed thing from it is called vidya (knowledge), This avidya is regarded to be eternal, beginningless and endless, and is the cause of the world of experience, launching us in the dream of life. This avidya is the logical mode of reasoning, and it represents a fall from intuition.[21] For Swami Dayananda, however, logical mode of reasoning means rational, sensible thinking, resulting in programmed, correct knowledge. What Acharya Shankara regards as knowledge is for Swami Dayanands the very height of ignorance.[22] Ignorance, emphasises Swami Dayananda, is not the absence of knowledge, but erroneous knowledge, born out of deficient instruments of experience. To regard ignorance as endless and beginningless is to indirectly state that it enjoys and existence of its own, superior to God, since, in the words of Acharya Shankara himself, it acts as a limiting adjunct on Brahman to produce the world of experience. Furthermore, no power deceptive as the maya[23] could produce the world of experience. Swami Dayananda states again and again that the world is a product of the efficient-causality of God and the material causality of matter. It is the result of a deliberate act of the creator, primarily for the benefit of the souls. Swami Dayananda agrees with Acharya Shankara when the latter says that knowldege is the knowledge of reality which is not contradicted,[24] but he disagrees with him when he says that the self is the only reality. Reality for Swami Dayananda ecompasses the Trinity of God, soul and matter.[25]

Swami Dayananda does not believe the world to be a fantasy like Acharya Shankara. It is worth knowing, because it contains the design and workmanship of the Divine creator. In fact it is the workshop in which one can investigate and finally arrive at fundamental information that gives an insight into the modus operandi of the Universal Designer. The capacity to investigate and arrive at knowledge is innate in the soul, the investigator, the subject of the knowing process which seeks to

comprehend a range of reality extending from the vastest magnitude to the smallest particle.[26] This soul, called 'Indra' in vedic terminology, is endowed with instruments of investigation, the senses, significantly called 'Indriyas'. Indriya means that which pertains to Indra. Swami Dayananda explains that in the pursuit of knowledge, the soul directs the mind, and the latter directs the five senses- optic, auditory, olfactory, gustatory and tectile. The direct contact of these five senses and the mind with light, sound, small, tests and touch, in addition to feelings of pleasure and pain etc., is productive of knowledge. However, for this to be regarded as valid knowledge, it must be free from error and doubt.[27] This view creates for Swami Dayananda a position diametrical to that expressly adopted by Acharya Shankara, who positively dismisses all knowledge acquired through the sense as unreal from the transcendental standpoint, however helpful it may be in the empirical experience.[28] The philosophy of Acharya Shankara denies the reality of truth of name and form as presented by the sense organs, and so it cannot rely on sense-based knowledge, nor can it make use of it in support of its contentions. To this Swami Dayananda replies that the very purpose of the senses is to lead the investigaor to the realm of truth. It is a fact that they, the senses alone would not lead the soul to truth, and it is for this reason that the senses are aided in their functions by the antah-karana-chatushtaya, the four-functioned internal organ, (comprising mind, ego, mindstuff and intellect) and the five koshas or sheaths (the physical, the vital, the mento-motor, the mento-sensory and the spirituo-emotional). These are the media through which the soul acquires all kinds of knowledge, carries on all the mental processes and performs its actions.[29]

In an effort to provide the seeker a positive framework of sound judgement whereby he can establish credibility and consequent validity of ideas gathered via the instruments of knowledge, Swami Dayananda suggests the following five criteria[30] :-

1- The Veda and the nature of God- All that conforms to the teaching of the Vedas and the nature, attributes and characteristics of God is correct, the reverse is incorrect.

2- Laws of nature- All that tallies with the nature is true, the reverse is untrue.

3- The prectice and teachings of the Aptas, who include the pious, truthful, unprejudicted and learned men. All that concurs with their practice and teaching is acceptable, the reverse unacceptable.

4- The purity and conviction of one's soul. What is good for one is naturally good for the world, and what is painful to one, would be naturally painful to others. This ought to be the guiding principle in one's interactions with others.

5- Eight kinds of evidence, viz. i) Direct Perception ii) Inference iii) Analogy iv) Testimony v) History vi) Deduction vii) Possibility viii) Negation.

It is only by mean of these five criteria, and not otherwise, can a seeker distinguish between truth and untruth, right and wrong. The first four criteria make up what is regarded as Swami Dayananda's unique contribution to Epistemology, since none of the six theistic schools of Indian philosophy have included any of these in their methods of knowledge. The eight kinds of evidence, though borrowed from Maharshi Gautma's Nyaya Sutras, are explained by Swami Dayananda in a manner distinctly his own. Swami Dayananda,like Maharshi Gautama sees no objection in reducing these eight methods to four, since History can be included under Testimony, and the remaining three under inference. From this we can gather that Dayananda accepts a minimum of four valid methods of knowledge, viz, Perception, Inference, Analogy and Testimony.

"In defining these methods of knowledge, though Swami Dayananda makes full use of ideas enunciated by Maharshi Gautama in his Nyaya sutras, still he distinguishes himself as an epistemologist by adding something to Gautama's theory, specially in case of perception (Pratyaksha) In explaining of Pratyaksha (percaption) Swami Dayananda goes a step further by saying that the senses and the mind can be instrumental in producing only a perception of attributes, while a perception of a

substance will necessarily call for the functioning of the soul in the process.[31] Even though perception is sense-based, still mere senses do not, in fact can not function on their own. Knowledge can be absorbed, appreciated and valued only by one possessed of an innate capacity to know - hence the soul being the final court of appeal. Those who assert that an object is not apprehended by perception - it is more of inference - will appreciate this definition supplied by Swami Dayananda."

The Madhyamika Buddhists teach that all perception is of a transient nature. Each individual state of consciousness being of a momentary duration, [32] the perception of a thing at one moment differs from what it was a moment before. All knowledge is, therefore, transient, relative and phenomenal. In fact, knowledge is inexplicable and impossible, since both knower and known are non-existent from the transcendental standpoint. [33] Swami Dayananda, in a short but sweeping condemnation of this Buddhist doctrine of momentariness, argues that if all perception be of a transient character, then there should be no recollection of past events. It is, however, a universally accepted notion that we do recollect what we saw or heard in the past. Memory of past events will militate against and finally disprove the notion of perception having a a momentary character. [34] Even the Vaibhashikas are not right in believing that when a thing is known by direct perception, no mental image of the outside object is formed in one's consciousness. Direct perception, posits Swami Dayananda, is impossible unless there be the perception of an object, and that too by a perceiver. Although the object of perception is outside one's consciousness, still perception will be impeded unless there is formed in one's consciousness a mental image of the objects.[35] Hence the untenability also of the Yogachara belief that no object exists outside one's consciousness [36], because the notion of an object big like a mountain physically in the reservoir of consciousness is itself an absurdity. The mountain, in actuality, exists outside consciousness, while, in the process of perception, its mental image is formed therein. [37] Further, the Sautranika crashing that nothing is perceived through direct perception also does not snack of sensible reasoning. If all knowledge is obtained only through Inference, as the Sautranikas claim [38], then it would not be right to refer to a pitcher, saying "this is a pitcher" since such a statement can be made only by one who has a direct cognition

of the pitcher. An act of inference cannot influence a statement that is possible on the strength of direct perception alone.[39]

## REFERENCES


1. Muller M., Six Systems of Indian Philosophy, 1912, p. XIII
2. SDS p. 4
3. SP, pp. 504-505
4. Ibid, Introduction p. ii
5. Brahma Sutra Bhashya p. 12
6. SP., p. 514
7. Ibid, p. 520
8. Ibid, p. 206
9. Ibid, p. 505
10. Ibid, p. 513
11. Brahma Sutra Bhashya p. 90
12. Radhakrishnan S., Indian Philosophy, Volume 2. p. 505
13. Sinha J, History of Indian Philosophy, Vol. 2, Central Book Agency, Calcutta, 1952, p. 553
14. Upadhyaya G.P., Philosophy of Dayananda, Ganga Gyan Mandir, Allahabad, 1955, p. 32
15. SP, p. 67
16. Ibid
17. SP, p. 274
18. Yoga-sutra 2.5
19. SP pp. 273-274
20. Brahma Sutra Bhashya p.3
21. Radhakrishnan S. Indian Philosophy, Volume 2, p. 574
22. SP, p. 279
23. Op. cit. p. 572
24. Op. cit. p. 501

25. SP, p. 325

26. RVBB p. 55

27. SP, p. 55

28. Sharma R.N. Essentials of Indian Philosophy, Oriental Publishing House, Kanpur, 1965, pp. 246-247

29. SP, p. 289

30. SP, p. 51-52

31. SP, p. 206

32. SPS, p. 55

33. Sinha J, A History of Indian Philosophy, Vol. II. p. 405

34. SP, p. 514

35. Ibid

36. SDS, p. 68

37. SP, p. 513

38. SDS, p. 80

39. SP, p. 513

Abbreviations -

SDS Sarvadarshansamgraha of Madhavacharya, Edited by Umashankar Sharma " Rishi". The chokhamba VidyaBhawan, Varansi, 1978.

SP Satyarth Prakash of Swami Dayananda Sarswati, Ramlal Kapoor trust, Bahalgarh, 1975
and
English translation - The light of truth by Chiranjeev Bhardwaj, Sarvdeshik Arya, Pratinidhi Sabha, Delhi, 1975

RVBB Rigvedadibhashyabhoomika of Swami Dayananda Saraswati, Ramlal Kapoor trust, Amritsar, 1967
and
English translation of Rigvedadibhashyabhoomika by Parmananda, Meharchanda Lachhmandas, Delhi, 1981

# सूचना

१– गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के समस्त स्नातकों को यह सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि विश्व प्रसिद्ध इस शिक्षा संस्थान की स्थापना को सौ वर्ष हो रहे हैं। इन सौ वर्षों के काल–खण्ड में गुरुकुल के यशस्वी स्नातकों ने विविध क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य किये हैं। गुरुकुल के स्नातकों की गौरव–गाथा को स्थायी रूप प्रदान करने के लिए "स्नातक–परिचायिका" के रूप में एक ग्रन्थ प्रकशित करने का निश्चय किया गया है। आपसे प्रार्थना है कि आप अपना विस्तृत परिचय तथा आपसे परिचित अन्य प्रतिष्ठित स्नातकों का परिचय चित्र के साथ भेजने का कष्ट करें।

२– स्व० आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के यशस्वी स्नातक थे। आचार्य जी ने जीवन के अन्तिम क्षण तक वेदवाणी का प्रचार प्रसार करना ही जीवन का लक्ष्य समझा हुआ था। वे अकस्मात ३० सितम्बर १९९८ की रात्रि में इस संसार को छोड़कर चले गये। उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए गुरुकुल पत्रिका का श्रद्धाञ्जलि अंक प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है।

जिन महानुभावों का आचार्य जी से निकट का सम्बन्ध रहा हो, उनसे प्रार्थना है कि वे अपनी श्रद्धाञ्जलि लेख या संस्मरण आदि के रूप में शीघ्र भेजने की कृपा करें।

**प्रो० महावीर**
प्रधान सम्पादक
गुरुकुल पत्रिका

❖ ❖ ❖